Printed and published by K. Mittra at The Indian Press, Ltd.
Allahabad.



हिज़ हायनस राजा सर रामसिंहजी बहादुर, के० सी० आय० ई०
सीतामऊ राज्य (मध्य भारत)

"समर्पण"

श्री पितृचरणकमलेषु

सादरम्

समर्पितम्

विषय-सूची

वक्तव्य—(पृष्ठ १-७)

(१)

मध्यकालीन भारतीय इतिहास-विमर्श।

(२)

पूर्व-मध्यकालीन भारत में साम्राज्य की नीति तथा धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध।

(३)

प्रथम भारतीय मुसलमानी बादशाहत।

(४)

अलूतमिश—भारत में मुसलिम साम्राज्य की स्थापना।

(५)

वलबन—परिवर्तन-काल।

(६)

अलाउद्दीन, मध्यकालीन भारत में उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन का प्रभात।

(७)

मुहम्मद तुग़लक़, पूर्व-मध्यकालीन भारत में उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन का मध्याह्न तथा उसके पतन का प्रारम्भ।

का विवरण—फ़िरोज़ की बाह्य नीति की विफलता के कारण तथा उसका दुष्परिणाम—फ़िरोज़ की धर्मनीति और उसके दुष्परिणाम—फ़िरोज़ का आन्तरिक शासन—आन्तरिक शासन के सिद्धान्त—फ़िरोज़ के अचिरस्थायी सुधार—जागीर-प्रथा का प्रारम्भ तथा उसके दुष्परिणाम—कृषि तथा लगान-सम्बन्धी सुधार—कर लगाने की पद्धति—सेना-संगठन—न्याय-शासन—दास-प्रथा और उसके दुष्परिणाम—मुद्रा-पद्धति में सुधार—फ़िरोज़ के सार्वजनिक कार्य—फ़िरोज़ का अन्त—साम्राज्य के पतन का एक महान् कारण।

(६)

लोदी सुलतान, मृतप्राय जाति के निष्फल प्रयत्न, पूर्व-मध्य-कालीन मुसलिम बादशाहत की अन्तिम जोति और उसका अन्त।

(पृष्ठ २६७-२६६)

देहली-साम्राज्य की अवस्था सन् १३९८ से १४१४ ई० तक—सय्यद सुलतान सन् १४१४ से १४५० ई० तक—लोदियों का आगमन—सन् १४५० ई० में भारत की दशा—लोदियों के सम्मुख पाँच राजनैतिक प्रश्न—वे कौन-कौन सी ग़लतियाँ कर सकते थे—उनकी अदूरदर्शिता—बहलोल लोदी—जौनपुर-विजय—शान्ति-स्थापना तथा साम्राज्यशासन के प्रयत्न—अमीरों के प्रति उसका बर्ताव—बहलोल, एक विफल सम्राट्—उसका व्यक्तिगत चरित्र—उसकी शासन-नीति का परिणाम—सिकन्दर लोदी—जौनपुर का प्रश्न—अमीरों के प्रति उसका बर्ताव—अन्य सुधार—उसकी नीति में किन-किन बातों का अभाव था—उसकी धर्म-प्रधान नीति—उसके शासन का प्रभाव—इब्राहीम लोदी—अमीरों के प्रति उसकी नीति—जलाल का विद्रोह—भारत के प्रथम मुसलिम साम्राज्य का अन्त।

अनुक्रमणिका (पृष्ठ १-२४)

वक्तव्य

साहित्य-संसार में इतिहास का स्थान बहुत ऊँचा है। इतिहास का पठन-पाठन रोचक ही नहीं, अत्यावश्यक भी है। लेबनिज़ के कथनानुसार, "वर्तमान काल की सृष्टि भूतकाल में हुई थी, और वर्तमान के गर्भ में भविष्य छिपा हुआ है"। अत: जहाँ तक हमें भूतकाल का ज्ञान नहीं हो, वहाँ तक आधुनिक काल के प्रश्नों को समझना बहुत कुछ कठिन हो जाता है। इतिहास का ज्ञान जाति तथा राष्ट्र के उत्थान में भी बहुत सहायता देता है, और राष्ट्र का सच्चा मार्ग-प्रदर्शक बन जाता है। प्राचीन भारत के सच्चे इतिहास को अज्ञान के अन्धकार से बाहर निकालने के लिए बड़े बड़े विद्वान् प्रयत्न कर रहे हैं। राजपूतों के इतिहास की कमी को चि० वि० वैद्य की "हिस्ट्री आफ़ मेडीवल इण्डिया" (खण्ड १-३) तथा महामहोपाध्याय राय बहादुर पं० गौरी-शंकर हीराचन्द ओझा का "राजपूताने का इतिहास" पूर्ण करेंगे, ऐसी पूर्ण आशा की जाती है। मुग़लकाल के इतिहास पर भी बहुत से ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, साथ ही साथ शोध भी जारी है। किन्तु देहली का प्रथम मुस्लिम साम्राज्य अभी तक विद्वानों का यथेष्ट ध्यान आकर्षित नहीं कर सका है। ईलियट

और डासन की "हिस्ट्री आफ़ इण्डिया" में तत्कालीन इतिहास-लेखकों के ऐतिहासिक ग्रन्थों के बहुत से भागों का अनुवाद मिलता है। तबक़ात-इ-नासिरी का रावेर्टीकृत अनुवाद, इब्न-बतूता के भ्रमणों का वृत्तान्त, ब्रिग्ज़कृत फ़रिश्ता का अनुवाद, अलबदौनी का रेकिङ्गकृत अनुवाद, आदि आदि ग्रन्थ यद्यपि अनेकानेक त्रुटियों से भरे हुए हैं, फिर भी उनमें इतिहास-लेखकों के लिए बहुत कुछ सामग्री भरी पड़ी है। फ़ारसी भाषा के ज्ञाताओं के लिए मूल पुस्तकें खुली पड़ी हैं। किन्तु ये इतिहास हमें उस समय का सच्चा विवरण नहीं बताते। लेखकों ने अपने ग्रन्थ नीरक्षीरन्यायेन नहीं लिखे हैं। अतः यह अत्यावश्यक है कि तत्कालीन इतिहास-विषयक समग्र सामग्री के आधार पर एक सच्चा, पक्षपात-रहित इतिहास लिखा जावे।

आधुनिक समय में, इस काल के इतिहास पर जिन जिन इतिहासकारों ने अपनी लेखनी उठाई है, प्रायः उन सबने मुसलमान इतिहासकारों की ही शैली का अनुकरण किया है। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद का ग्रन्थ, यद्यपि खोज के साथ लिखा गया है, किन्तु जितनी आशा थी, उतनी नूतनता, उस ग्रन्थ में भी नहीं पाई जाती। यद्यपि उन्होंने कई ऐतिहासिक शुष्क-विवादों को रोचक बना दिया, किन्तु उनकी पुस्तक न तो नूतन दृष्टिकोण से लिखी गई है, और न उन्होंने राष्ट्रीय जीवन तथा राष्ट्रीय इतिहास के महान् प्रवाहों का विशेष वर्णन किया है। मेरे विचारानुसार इन प्रवाहों का अध्ययन, केवल घटनाओं के अध्ययन से, अधिक आवश्यक है। इन प्रवाहों का अध्ययन ही इतिहास में जान डाल देता है तथा

इन सूत्रों में बँध कर निर्जीव, निष्प्राण घटनाओं का समूह एक जीवित वस्तु हो जाती है।

कुछ ही समय पहले "केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इण्डिया" का तृतीय खण्ड प्रकाशित हुआ है। इस खण्ड में तुर्क तथा अफ़गानों का इतिहास वर्णित है। यद्यपि यह ग्रन्थ, प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद के ग्रन्थ के बाद में प्रकाशित हुआ, किन्तु इसमें प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद के ग्रन्थ में दिये हुए नये विचारों का नाम-मात्र को भी समावेश नहीं किया गया है। यही नहीं, इस ग्रन्थ में पुराने कथानकों, तथा पुराने विचारों का ही पूर्ण प्राधान्य है। इस ग्रन्थ को पढ़कर कोई भी इतिहासज्ञ यह नहीं कह सकता है कि यह ग्रन्थ सन् १९२८ ई० में प्रकाशित हुआ है; इसे पढ़ने पर यही मालूम पड़ता है कि यह ग्रन्थ १९वीं शताब्दी के अन्त में लिखा गया होगा। मेरे विचारानुसार तो एलफ़िन्स्टन का ग्रन्थ इस पुस्तक से कहीं अधिक अच्छा है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इतिहास के ग्रन्थों में यह अधिक आवश्यक है कि घटनाओं के समूह को एक सूत्र में बाँधकर समस्त इतिहास में, अबाध गति से किन्तु अदृष्ट बहनेवाले, भिन्न भिन्न प्रवाहों का विवेचन किया जावे। इस ग्रन्थ में मैंने इसी उद्देश्य को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। इस कथन के द्वारा मैं किसी प्रकार का दावा नहीं करता कि मेरा ग्रन्थ लेनपूल, एलफ़िन्स्टन, तथा प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद के ग्रन्थों से कहीं बढ़कर है। यह कहने की मैं कभी भी धृष्टता तक नहीं कर सकता। मेरे इस ग्रन्थ में न तो एलफ़िन्स्टन के इतिहास की सी गम्भीरता, न लेनपूल की पुस्तक की सी

मधुर तथा सुन्दर भाषा, और न प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद के ग्रन्थ की सी विद्वत्ता पाई जाती है। मेरा ध्येय तो यही है कि सारे इतिहास को नवीन ढाँचे में ढाल दूँ। इस ग्रन्थ में मैंने यही प्रयत्न किया है कि इतिहास को नवीन दृष्टिकोण से लिखूँ। अपने इसी ध्येय को परिपूर्ण करने के लिए मैंने डाक्टर ईश्वरीप्रसाद के समान सम्पूर्ण क्रमबद्ध इतिहास नहीं लिखा है।

राष्ट्रीय जीवन, नीति तथा साम्राज्य के उत्थान, पतन आदि प्रधान प्रधान बातों की क्रमबद्ध आलोचना करने के लिए, तथा जिन अदृश्य सूत्रों में इतिहास की भिन्न भिन्न घटनायें गुथी रहती हैं, उनको स्पष्टतया बताने के लिए ही मैंने कुछ महत्त्व के विषय चुनकर उन्हीं पर निबन्ध लिखे हैं।

प्रारम्भ में मध्यकालीन इतिहास की लेखनशैली पर एक दृष्टि डाली है। तदनन्तर हमने उन दो प्रधान बातों पर विचार किया, जिनका साम्राज्य की नीति पर अमिट प्रभाव पड़ा है। इसके बाद मध्यकालीन भारतीय राजनैतिक रंग-मंच पर पदार्पण करनेवाले पाँच महान् पात्रों के कार्य का विवरण दिया है। अन्तिम लेख में सारे लोदी-वंश पर दृष्टि डाली है, और उन कारणों को ढूँढ़ निकाला गया है, जिनके द्वारा लोदीवंश का ही नहीं, प्रथम भारतीय मुस्लिम साम्राज्य का भी पतन हुआ।

भिन्न भिन्न बादशाहों पर विचार करते समय मैंने एक ही तराज़ू से सबको तौला है। एक ही माप से प्रत्येक सम्राट् की जाँच की है तथा उसकी महत्ता और पतन की मर्य्यादा ठहरायी है। यह सम्भव है कि बलहीन

सय्यदों की विफलता को देखने के अनन्तर हम बहलोल की विजयों का वर्णन सुनकर आश्चर्य-चकित हो जावें; किन्तु यदि हम सय्यदों की विफलता से बहलोल की सफलता की तुलना करें, और बहलोल को एक महान् सम्राट् समझें तो हम बलबन, अलाउद्दीन आदि सम्राटों के प्रति अन्याय करेंगे। प्रत्येक सम्राट् का वर्णन करते समय, उसके सम्मुख कौन कौन से प्रश्न समुपस्थित हुए, उनको हल करने के लिए उसने किस नीति का पालन किया, तथा उसमें उसे कहाँ तक सफलता मिली, इन सब बातों पर विचार किया गया है।

सम्भव है पाठक पूछें कि बड़े बड़े विद्वानों की पुस्तकों के रहते मैंने इस ग्रन्थ के लिखने की धृष्टता तथा साहस क्यों किया। उनको अँगरेज़ी के सुप्रसिद्ध लेखक, रस्किन के शब्दों में मैं यों उत्तर दूँगा—

"A book is written not to multiply the voice merely, not to carry it merely, but to perpetuate it. The author has something to say, which he perceives to be true, and useful or helpfully beautiful. So far as he knows, no one else has said it; so for as he knows, no one else can say it. He is bound to say clearly and melodiously if he may. clearly at all events."

(Sesame & Lilies).

यानी "एक सच्ची पुस्तक लेखक के विचारों को प्रकट करने, या उसका सन्देश दूर दूर तक फैलाने के लिए नहीं लिखी जाती, किन्तु लेखक के विचारों को चिरस्थायी करने के

लिए ही उस पुस्तक की रचना होती है। लेखक कोई ऐसी बात कहना चाहता है, जो उसे सत्य, उपयोगी तथा अतीव सुन्दर प्रतीत होती है। जहाँ तक उसे मालूम है वह बात अभी तक किसी ने नहीं कही है, और जहाँ तक उसका विचार है उसके सिवाय कोई दूसरा व्यक्ति वह बात नहीं कह सकता है। यदि हो सका तो वह अपने विचारों को मधुर स्पष्ट भाषा में व्यक्त करेगा, कम से कम उस बात को स्पष्ट शब्दों में तो अवश्य कहेगा।"

अन्त में मैं उन सबको धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिन्होंने मुझे इस पुस्तक के लिखने में मदद दी है, या जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थ की रचना करने के लिए प्रोत्साहित किया है। प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद को भी मैं धन्यवाद देता हूँ, क्योंकि उनके ग्रन्थ Medieval India से मुझे बहुत सहायता मिली है, तथा उन्होंने उस ग्रन्थ से उद्धरण लेने के लिए भी आज्ञा दी है। जिन भिन्न भिन्न ग्रन्थों से मुझे सहायता मिली है, उनके लेखकों को भी धन्यवाद देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

यह अवश्यम्भावी है कि पाठकों को इस ग्रन्थ में कई एक दोष, त्रुटियाँ आदि दिखाई देंगी। यदि कृपा कर वे पाठकगण मुझे उनकी सूचना दे देंगे तो मैं उनका अतीव कृतज्ञ हूँगा। इतिहास के विद्वानों से भी मैं आशा करता हूँ कि वे निष्पक्ष दृष्टि से इस ग्रन्थ के गुण-दोषों की विवेचना करेंगे। तथा अपनी बहुमूल्य सम्मति-प्रदान करेंगे। उनके कथन पर मैं सादर विचार करूँगा, और इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में आवश्यक परिवर्त्तन करने का प्रयत्न करूँगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस काल पर लिखित ऐतिहासिक ग्रन्थों की हमारे यहाँ बहुत बड़ी कमी है, हिन्दी में तो एकाध ग्रन्थ के अतिरिक्त कोई ऐसी पुस्तक भी नहीं है जिसका नाम लिया जा सके। यदि मेरा यह प्रयास इस कमी को कुछ भी पूरा कर सका तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

रामनिवासमहल
सीतामऊ
दीपावली वि० सं० १९८७

रघुवीरसिंह

१

मध्यकालीन भारतीय इतिहास-विमर्श।

१

मध्यकालीन भारतीय इतिहास-विमर्श

लेबनिज़ लिखता है कि "वर्त्तमानकाल की सृष्टि भूत-काल में हुई थी"। उसके इस कथन का अर्थ यह है कि आज जो जो प्रश्न तथा जो जो समस्याएँ देश के सम्मुख उपस्थित हैं उनका प्रादुर्भाव आज से बहुत काल पहिले अनन्त भूत में हुआ था। भूतकाल में कई ऐसी घटनाएँ घटीं जिनसे कुछ नवीन प्रश्नों की उत्पत्ति हुई तथा वे प्रश्न देशकालानुसार परिवर्तित होते होते आज या तो उसी रूप में या किसी अन्य परिणत स्वरूप में समुपस्थित हैं। अतः आधुनिक काल के कई प्रश्नों को हल करने के लिए इस बात की महान् आवश्यकता है कि हम अपने प्राचीन इतिहास का पूर्ण अध्ययन करें।

क्या आज हम भारतवर्ष के सच्चे इतिहास का अध्ययन कर रहे हैं? प्राचीन काल का इतिहास अनन्त भूत तथा विस्मृति के गर्भ में इतना विलीन हो गया है, तथा समय के उलटफेर, राजनैतिक क्रान्तियों और अन्य फेरफारों से तत्कालीन इतिहास की सामग्री इतनी तितर-बितर और नष्ट होगई है कि उस समय का एक सम्बद्ध इतिहास

लिखना एक कठिन समस्या है। इन सब कठिनाइयों का सामना करते हुए भी जो इतिहास-प्रेमी आज भारत के उस प्राचीन तथा अज्ञात इतिहास को जानने के लिए, और उन ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए कठिन परिश्रम कर रहे हैं, उनके प्रति भारतवासी इतने ऋणी हैं कि इस भार से वे कभी भी उऋण नहीं हो सकते। समय के निरन्तर उलटफेर तथा हिन्दुओं-द्वारा लिखित इतिहास के अभाव के होते हुए भी आज पूर्व-मध्यकालीन इतिहास-विषयक बहुत बड़ी सामग्री इतिहासकारों के पास समुपस्थित है। इतना होते हुए भी इस काल की ओर इतिहासज्ञों का ध्यान आकर्षित नहीं हो रहा है। विद्वानों की इस उदासीनता का केवल यही कारण है कि उनके विचारानुसार इस काल का अध्ययन करना आवश्यक नहीं है। किन्तु हमें एक बात का ध्यान सर्वदा रखना चाहिए कि किसी भी देश के इतिहास की कोई भी घटना कैसी भी तुच्छ क्यों न हो तिरस्करणीय नहीं है। प्रत्येक देश तथा राष्ट्र के इतिहास में कई काल ऐसे आते हैं, जो बाह्य दृष्टि से तो साधारण, महत्त्व-रहित प्रतीत होते हैं, किन्तु ऐसे ही समयों में अदृष्टरूप से अज्ञाततया समाज में कई प्रवृत्तियों का आरम्भ होता है, जो काल पाकर बड़े ही महत्त्व की हो जाती हैं। अगर हम उत्तर-मध्यकालीन भारत की (मुग़लकाल की) महत्ता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो यह अत्यावश्यक है कि हम पूर्व-मध्यकालीन भारत के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करें। हम मुग़लकाल की महत्ता को देखकर आश्चर्य-चकित रह

पूर्व-मध्यकालीन भारतीय इतिहास का महत्त्व

जाते हैं, किन्तु उस समय हम भूल जाते हैं कि इस महत्ता को नींव डालनेवाले वे विजयी वीर थे, जिन्होंने एक अज्ञात तथा विपक्षी देश में प्रवेश कर वहाँ अपने भावों, विचारों, आदर्शों तथा अपने नवीन समाज की स्थापना की थी। प्रारम्भिक विजय प्राप्त करनेवाले इन्हीं वीरों ने उस नवीन सभ्यता का बीज बोया था, जो काल पाकर वृद्धि को प्राप्त हुआ, और मुग़लकाल में पूर्णरूपेण विकसित हुआ[1]। इसी पूर्व-मध्यकाल में आधिभौतिक पाश्चात्य भावों का आध्यात्मिक पूर्वीय विचारों से ऐसा अपूर्व सम्मिलन हुआ कि एक नवीन सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। यही कारण है कि मुग़लकालीन सभ्यता उसी समय के अन्य मुस्लिम देशीय सभ्यता से बहुत ही भिन्न थी। इसी काल में इस्लाम तथा हिन्दूधर्म परस्पर प्रभावान्वित हुए। एक ओर हिन्दू-धर्म में भक्तिमार्ग का प्रारम्भ हुआ तो दूसरी ओर इस्लाम-धर्म ने अपने आपको नवीन देश-काल के उपयुक्त बना लिया। भारतीय इस्लाम-धर्म, प्रारम्भिक इस्लाम-धर्म से इतना विभिन्न होगया था कि यदि बग़दाद तथा कैरोनिवासी इस्लाम-धर्म के तत्कालीन धुरन्धर विद्वानों को समीक्षा करनी पड़ती तो इसमें तथा विधर्म में अधिक भेद न दिखाई पड़ता[2]। इसी काल में भारत की आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास का प्रारम्भ हुआ। भारतीय इतिहास का पूर्व-मध्यकाल, निष्प्रभ, अरुचिकर,

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करणः—पृष्ठ ५२८.

२ हेवेलः—हिस्ट्री आफ़ दी आयर्न रूल इन इण्डियाः—पृष्ठ ३३०-१.

अनावश्यक तथा महत्त्व-रहित था, ऐसा समझ कर उसके अध्ययन की ओर ध्यान न देना तथा मुग़लकाल के इतिहास को अधिक महत्त्व देना, सच्चे इतिहास-लेखक को नहीं सोहता।

मध्यकालीन इतिहास की लेखनशैली।

प्राय: प्रत्येक इतिहासकार का यह मत है कि मध्यकालीन भारत का सच्चा इतिहास नहीं लिखा जा सकता। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "मेडीवल इण्डिया" की भूमिका में लेनपूल लिखता है कि—"मुसलमान-कालीन भारतवर्ष का इतिहास तत्कालीन बादशाहों, उनकी राजसभाओं तथा उनके युद्धों का चिट्ठा है, उसमें जातीय (या राष्ट्रीय) जीवन के विकास तथा ह्रास आदि का उल्लेख नहीं है[१]।" लेनपूल के इस कथन से इतिहासकार ही नहीं भारतीय इतिहास का प्रत्येक पाठक भी सहमत होगा। जब कभी कोई भी पाठक मध्य-कालीन भारत के इतिहास के ज्ञान के लिए किसी भी पुस्तक को उठाता है, तब उसे प्रत्येक ग्रन्थ में देहली के साम्राज्यों तथा समय समय पर यत्र तत्र स्थापित किये जानेवाले छोटे-छोटे राज्यों के बादशाहों के वर्णन के अतिरिक्त कुछ भी अधिक नहीं मिलता। एलफ़िन्स्टन से लेकर ईश्वरीप्रसाद तक समस्त इतिहास-लेखकों ने इतिहास-लेखन में उसी पद्धति-विशेष का अनुसरण किया है।

उसमें त्रुटियाँ।

किन्तु क्या उचित शैली से लिखे गये इतिहास के अभाव के कारण ही हमारा यह विचार करना, कि 'मध्यकालीन भारत का इतिहास नहीं लिखा जा सकता,' उचित है? यदि लेखन-शैली

१. लेनपूलः—मेडीवल इण्डिया, भूमिकाः—पृष्ठ (iv.).

में दोष है तो क्या हमें यह सोचना चाहिए कि "मध्यकालीन भारत का इतिहास अमनोहारी तथा अरुचिकर है?" यदि इन प्रश्नों के उत्तर में "हाँ" कहेंगे तो हम तत्कालीन इतिहास के प्रति ही नहीं किन्तु इस राष्ट्र, यहाँ के निवासियों तथा यहाँ की सभ्यता के प्रति घोर अन्याय करेंगे।

मध्यकाल में भारतीय प्रजा की क्या दशा थी, इस विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम है। किन्तु उपलब्ध सामग्री से भी देश की दशा का बहुत कुछ सच्चा इतिहास लिखा जा सकता है। यह बात हमें माननी पड़ेगी कि भारत में ऐतिहासिक सामग्री की न्यूनता योरोपीय देशों की तुलना में कुछ अधिक है। किन्तु न्यूनाधिक यह न्यूनता समस्त संसार में पाई जाती है। इस न्यूनता के लिए हम तत्कालीन इतिहास-लेखकों को दोष नहीं दे सकते; क्योंकि आदर्श समय समय पर बदलते रहते हैं, तथा भिन्न भिन्न बातों का सापेक्ष्य महत्त्व भी समय के साथ घटता-बढ़ता रहता है। मध्यकाल में, भारत में ही नहीं योरोप में भी, साम्राज्यों का उत्थान तथा पतन और महायुद्धों में जय तथा पराजय का वर्णन ही अधिक महत्त्व का समझा जाता था; उन दिनों इतिहासकारों के विचारानुसार तत्कालीन सामाजिक जीवन का वर्णन करना, तथा राष्ट्रीय जीवन के उत्थान और पतन का अध्ययन करना, अधिक महत्त्व का नहीं था।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि भारतीय इतिहास की त्रुटि उसकी लेखन-शैली में है। इस विषय में कभी भी दो मत नहीं हो सकते कि आज तक जिस शैली का

अनुसरण किया गया है वह सदोष है। इस बात की जाँच करने के पहिले कि इस शैली में कहाँ दोष है, हम यह उचित समझते हैं कि पाठकों को यह बता दें कि इस शैली-विशेष का उद्गम क्योंकर हुआ। मध्यकाल का प्रथम आधुनिक इतिहास एलफ़िन्स्टन ने लिखा और सन् १८४१ ई० में प्रकाशित करवाया[1]। एलफ़िन्स्टन का इतिहास मुख्यतः फरिश्ता तथा ख़फ़ीख़ाँ के फ़ारसी ग्रन्थों ही के आधार पर लिखा गया था और लेखक ने उन्हीं मुसलमान लेखकों की शैली का अनुसरण किया। एलफ़िन्स्टन के बाद जब जब अन्य लेखकों ने मध्यकालीन भारतवर्ष का इतिहास लिखने के लिए लेखनी उठाई तब तब उन्होंने उसी की शैली का ही अनुसरण किया। कुछ ही काल पहिले प्रकाशित हुए "केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इण्डिया" के भाग ३ की लेखन-शैली पर भी एलफ़िन्स्टन का अमिट प्रभाव पड़ा है।

इस लेखन-शैली के उद्गम की कथा।

समय परिवर्तनशील है। अब पाठकों को यह प्रतीत होने लगा है कि इतिहासकारों ने दो बड़ी ग़लतियाँ की हैं। प्रथम तो आधुनिक लेखकों ने समय के साथ आदर्शों में होनेवाले परिवर्तनों का विचार नहीं किया। आधुनिक आदर्शों की ही कसौटी पर उन्होंने मध्यकालीन सम्राटों के चरित्र तथा कार्यों को कसा। दूसरे; पाश्चात्य विद्वानों ने भारत का इतिहास लिखने में भारतीय सम्राटों को पाश्चात्य आदर्शों की कसौटी पर कसा। इस प्रकार अपने देश के वीरों

१. स्मिथः—आक्सफ़र्ड हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, Introduction :— पृष्ठ xxi-xxii.

को अनादर की दृष्टि से देखना सिखा कर उन इतिहासकारों ने भारत पर जाने अथवा अनजाने ही महान् अन्याय किया।

इतिहास-लेखन के नवीन आदर्श।

किन्तु अब भारतीयों को धीरे धीरे अपने प्राचीन गौरव का कुछ कुछ ज्ञान होने लगा है। उन्हें प्रतीत होने लगा है कि भारत का इतिहास भी संसार के अन्य देशों के समकालीन इतिहास से किसी भी प्रकार कम गौरवशाली नहीं है। योरोप में यद्यपि शार्लमन, चार्ल्स पंचम, आदि महान् सम्राट् हुए, किन्तु अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुग़लक उनसे किसी भी भाँति कम नहीं थे। यही नहीं, जैसे समय समय पर योरोप में धर्म-सुधार एवं राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के आन्दोलन के प्रवाह आये तथा जैसे जैसे कला, साहित्य आदि में बड़े बड़े परिवर्तन हुए, उसी प्रकार भारत में भी, समय समय पर, ऐसे ही प्रवाह बहे हैं। भक्तिमार्ग का प्रारम्भ, हिन्दी भाषा का उद्भव, हिन्दू-मुस्लिम-कला का प्रारम्भ, राजपूतों का स्वातन्त्र्य—युद्ध आदि बातें ऐसी हैं, जो भारत के इतिहास को योरोपीय इतिहास से बढ़ कर ही प्रदर्शित करती हैं। अपनी पुरातन महत्ता का यह भाव अब धीरे धीरे भारतीय इतिहास-लेखकों में संचारित होने लगा है और इसी से प्रभावान्वित होकर प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि "यदि इतिहास के विषय को संकीर्ण न करें तो उसमें समाज तथा मानवीय जीवन की भिन्न भिन्न प्रगतियों का भी समावेश होता है, और इस तरह भारत का मध्यकालीन इतिहास, युद्धक्षेत्रों में प्रदर्शित देदीप्यमान पराक्रम, शासन तथा नीति के महान् कार्यों की और सामाजिक तथा धार्मिक

इतिहास की महती घटनाओं तथा उनके परिवर्तनों का भी विवरण है[१]।"

किन्तु अब भी भारतीय इतिहास-लेखन-प्रणाली में परिवर्तन नहीं हुआ है। प्राचीन प्रणाली के अनुसार इतिहास में, सम्राटों तथा उनके प्रधान कार्यों का ही वर्णन रहता है, जिससे इतिहास-ग्रन्थ बहुत ही अरुचिकर बन जाते हैं। राष्ट्रीय जीवन तथा समाज की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों को, और जिन महान् प्रश्नों को हल करने के लिए प्रत्येक महान् सम्राट् को बहुत विचार करना पड़ा था उनको, प्राचीन पद्धति पर लिखे गये इतिहासों में स्थान नहीं मिलता। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद के ग्रन्थ में एक प्रकार से प्राचीन तथा नवीन प्रणाली का सम्मिश्रण हो गया है। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध तथा विद्वत्तापूर्ण लिखे गये इतिहास में स्थान स्थान पर भारतीय इतिहास की महत्ता तथा राष्ट्रीय जीवन और समाज की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया है। फिर भी उनकी लेखन-शैली पूर्णतया प्राचीन है। इसी कारण इन महान् प्रश्नों के विषय में जो कुछ उन्होंने लिखा है वह उस ग्रन्थ का आकार देखते हुए पर्याप्त प्रतीत नहीं होता।

लेखन-शैली में उपयुक्त परिवर्तनों की आवश्यकता।

इस विषय पर कभी भी दो मत नहीं हो सकते कि अब प्राचीन ढंग पर लिखे गये इतिहास-ग्रन्थों से ही काम नहीं चलने का। यह अत्यावश्यक है कि समय समय पर इतिहास

१ ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, भूमिकाः—पृष्ठ E.

पुनः लिखा जाना चाहिए। घटनाओं का वर्णन करके ही इतिहास-लेखकों को सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए। पुनः इतिहास को विच्छेद करने से ही काम नहीं चलता। आवश्यकता इस बात की है कि भिन्न भिन्न ऐतिहासिक घटनाओं को भिन्न भिन्न सूत्रों में बाँध कर इतिहास में वह एकता पैदा कर दी जावे कि घटनाओं का वह महान् समूह, एक सजीव चित्र के समान दिखाई दे।

इतिहास में सिद्धान्तवाद और साधारणी-करण।

"सिद्धान्तवाद तथा साधारणी-करण (Generalization) तो इतिहास के प्राण हैं। इन्हीं से ऐतिहासिक घटनाओं का स्पष्टीकरण होता है, इन्हीं की सहायता से इतिहास एकता के सूत्र में बाँधा जा सकता है, तथा इन्हीं की सहायता से हम इतिहास की उन भूतकालीन घटनाओं से शिक्षा ले सकते हैं। इतिहास-लेखन में जब जब इन दो सिद्धान्तों की सहायता ली गई है, तब तब यह शक्य होगया है कि इतिहास की सहायता से जाति और देश के शासन का व्यावहारिक मार्ग जान सकें। किन्तु इनका उपयोग निष्पक्षभाव से किया जाना चाहिए, साथ ही, यह भी आवश्यक है कि, इस बात की जाँच कर ली जानी चाहिए कि ऐतिहासिक घटनाएँ किसी सिद्धान्त-विशेष का समर्थन तो नहीं करतीं, तथा पूर्वगामी महान् इतिहास-लेखकों के मतों में कहाँ तक सत्य पाया जाता है। इतिहास-लेखक को चाहिए वह स्वयं किसी सिद्धान्त विशेष का अन्धानुयायी न बने, तथा खींचतान कर प्रत्येक घटना का उस सिद्धान्त विशेष से संबन्ध जोड़ने की चेष्टा न करे। लेखक को चाहिए कि भिन्न भिन्न सिद्धान्तों से ऐतिहासिक

घटनाओं पर पड़नेवाले प्रकाश का स्वागत करे। जो सिद्धान्त अपने पूर्ण परिपक्वस्वरूप को न प्राप्त हुए हों, उनमें कई त्रुटियाँ भी हों, फिर भी सम्भव है कि उनकी सहायता से लेखक घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनका सच्चा महत्त्व बता सके। कई बार जब ऐसे त्रुटिपूर्ण तथा अपूर्ण सिद्धान्त का इतिहास-लेखक तिरस्कार करते हैं, तभी वे भद्दी ग़लतियाँ कर बैठते हैं। इस तरह धीरे धीरे इतिहास वृद्धि को प्राप्त होता है, और इसी कारण समय समय पर उसके पुनः लिखे जाने की आवश्यकता होती है। कई नवीन घटनाओं का दिन प्रतिदिन ज्ञान होता जाता है, और निरन्तर होनेवाले परिवर्तनों के फलस्वरूप प्राचीन घटनाओं को नूतन महत्त्व प्राप्त होता है। पुनः समय-समय पर तीक्ष्ण बुद्धि-पूर्ण और मौलिकता से भरे हुए मस्तिष्क पुरानी घटनाओं में ऐसी बातें देखते हैं, जिनकी ओर पहिले किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ था। इन भिन्न भिन्न नूतनताओं के ही कारण इतिहास एक उन्नतिशील शास्त्र है[1]।" साथ ही साथ समय-समय पर विचारशील पुरुषों के सम्मुख कई नवीन दृष्टिकोण समुपस्थित होते हैं, जिनकी सहायता से भूतकालीन घटनाओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इधर समय-समय पर मानवीय आदर्शों में होनेवाले परिवर्तनों का भी प्रभाव लेखन-शैली पर पड़े बिना नहीं रहता। पुनः प्रत्येक काल से सम्बन्ध

समय समय पर इतिहास के पुनः लिखे जाने की आवश्यकता।

---

१. ब्राइसः—इण्ट्रोडक्शन टु दी हिस्ट्री आफ़ दी वर्ल्ड, खण्ड ६, पृष्ठ xiii का भावानुवाद।

रखनेवाली उन गहन प्रवृत्तियों की, जो महान परिवर्तनों के लिए रास्ता साफ़ करती हैं, तथा उन संयोगों की, जिनसे उस नये परिवर्तित स्वरूप का उद्गम होता है, आलोचना करना ही इतिहास का एक प्रधान उद्देश्य है। अतएव इतिहासकार का मुख्य कार्य यह है कि मानव-समाज की असंख्य अद्भुत घटनाओं के बाहुल्य में से वह उन अत्यावश्यक एकताओं का पता लगावे, जो उन घटनाओं के तले अदृश्य रूप से पाई जाती हैं।

इस नवीन, मौलिक, और साथ ही साथ वैज्ञानिक रीति से, मध्यकालीन भारत का इतिहास लिखा जाना चाहिए। क्योंकि इस रीति से लिखे गये इतिहास ही हमें समाज तथा देश को हानि-लाभ पहुँचानेवाली प्रवृत्तियों का पता बताते हैं। इसी प्रकार हम समय-समय पर बदलनेवाले आदर्शों तथा विचारों का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

पूर्व-मध्यकालीन भारत के इतिहास को हम, इन्हीं ऐतिहासिक एकताओं के आधार पर, सात प्रधान विभागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रत्येक विभाग, भिन्न भिन्न कारणों तथा कार्यों की परम्परा से पूर्णतया ग्रथित हैं। वे सात विभाग यों हैं—

पूर्व - मध्यकालीन भारतीय इतिहास का काल-विभाग।

१००० से ११९० ई० तक—आक्रमणकाल—भारतीय हिन्दू-साम्राज्य का अधःपतन।

११९० से १२०६ ई० तक—भारत-विजयकाल।

१२०६ से १२६६ ई० तक—भारतीय मुस्लिम-साम्राज्य की स्थापना—सेना-प्रधान-शासन-काल। (Military monarchy).

१२६६ ई०—१३५१ ई० तक—उन्नतिशील स्वच्छन्द-शासन-काल—(The Enlightened Despotism)। उसका उत्थान और पतन।

१३५१ ई० से १३९४ ई० तक—एकीकरण-काल—साम्राज्य का पतन।

१३९४ ई० से १४५० ई० तक—साम्राज्य की पतितावस्था।

१४५० ई० से १५२६ ई० तक—पठानों का साम्राज्य-निर्माण के लिए प्रयत्न। जागीर प्रथा की प्रधानता–(Feudal monarchy). पठानों तथा प्रथम देहली-साम्राज्य का पतन।

जीवन-संग्राम में जैसे अपने नैतिक उत्थान के लिए कभी मनुष्य भीषण प्रयत्न करता है, कभी वह पतन के गम्भीर गह्वर की ओर लुढ़कता जाता है, और कभी थक कर निश्चेष्ट पड़ जाता है, उसी प्रकार से राष्ट्रीय जीवन का भी उत्थान और पतन होता है और कभी कभी कुछ काल के लिए राष्ट्र में भी अकर्मण्यता का एकछत्र शासन हो जाता है। इतिहास, मानव-समाज की धार्मिक, मानसिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रवाहों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का एक लम्बा चिट्ठा है। ऊपर दिये गये विभागों से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय जीवन में कभी कभी ये प्रवाह पूर्ण वेग से बहते हैं, उनमें नव-जीवन का संचार होता है, नवीन स्फूर्ति के साथ वे उमड़ पड़ते हैं, और बाद को शीघ्र ही उनमें पुनः शिथिलता आ जाती है, पुनः पतन व्याप्त हो जाता है, अकर्मण्यता का दौर-दौरा होता है, और समस्त राष्ट्र को इस पतन और अकर्मण्यता का भयंकर परिणाम भुगतना पड़ता है। राष्ट्रीय जीवन में किन

कारणों से इस तरह के परिवर्तन होते रहते हैं, क्योंकर एकाएक उमड़ते हुए उत्साह के प्रवाह में शिथिलता आ जाती है, और किस तरह शिथिलता और अकर्मण्यता के साथ ही साथ नवजीवन का बीज पुनः बोया जाता है, यह सब बताना, उन अदृष्ट कारणों को ढूँढ़ निकालना इतिहासकार का प्रधान कर्तव्य है। जब इतिहासकार इन भिन्न भिन्न कारणों तथा प्रवृत्तियों को ढूँढ़ निकालता है तब उसका ऐतिहासिक ग्रन्थ भूतकालीन इतिहास को समझने में ही सहायक नहीं होता है, किन्तु भविष्य के लिए राष्ट्र का मार्ग-प्रदर्शक भी बन जाता है। तभी हम भूतकालीन घटनाओं के अनुभव से लाभ उठाकर अपने राष्ट्र के भावी जीवन को अधिक उन्नतिशील बना सकते हैं।



२

पूर्वमध्यकालीन भारत में साम्राज्य की नीति तथा धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध।

२

पूर्व-मध्यकालीन भारत में धर्म तथा साम्राज्य की नीति का पारस्परिक सम्बन्ध।

मध्यकालीन योरोपीय विद्वानों में इस बात पर बहुत मत-भेद था कि धर्म तथा राज्य की नीति का पारस्परिक सम्बन्ध क्या होना चाहिए। पोप धार्मिक संसार का प्रतिनिधि था और सम्राट् राजसत्ता का प्रतिनिधि समझा जाता था। तत्कालीन योरोपीय विद्वानों में इस विषय पर बहुत मतभेद था कि दोनों प्रतिनिधियों में किसकी सत्ता अधिक होनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में दो विपरीत प्रवृत्तियों का परस्पर संघर्षण चल रहा था। उसकी राजभक्ति उसे सम्राट् की ओर आकर्षित कर रही थी और दूसरी ओर धार्मिक प्रवृत्ति उसे पोप की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रही थी। इस संघर्षण में जिस प्रवृत्ति की विजय होती वही प्रत्येक मनुष्य के विचारों को निश्चित करती थी। किन्तु उस समय धार्मिक विचारों का प्राधान्य था, अतः प्रायः धार्मिक प्रवृत्ति ही प्रबल होती थी, और इसी कारण पोप का विरोध करना, धर्म के विरोध करने के समान माना जाता था। अतः योरोप में पोप तथा सम्राट् के इस झगड़े में पोप की ही विजय हुई और सम्राट् को पोप के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा। पोप की इस विजय का प्रभाव यह हुआ कि वह अब प्रत्येक देश के शासन तथा

अन्य भौतिक बातों में भी (Temporal matters) हाथ डालने लगा।

राजनैतिक तथा धार्मिक विचारों का संघर्षण मध्यकाल में भारत में भी हुआ, किन्तु यहाँ इस प्रश्न का स्वरूप योरोपीय प्रश्न के स्वरूप से भिन्न था। मुसलमान-साम्राज्य प्रारम्भ से ही धर्मप्रधान रहा है। धर्म ही से राज्य में स्फूर्ति का संचार होता था तथा धार्मिक आज्ञाओं के अनुसार ही राज्यशासन का संचालन होता था। प्रत्येक मुसलमान सम्राट् को पोप तथा सम्राट् दोनों ही के अधिकार प्राप्त थे। किन्तु मुस्लिम शासक को यह अधिकार न था कि वे किसी भी प्रकार क़ुरान की आज्ञाओं का उल्लंघन करें। इस्लाम-धर्म-विषयक प्रश्नों का उत्तर देना तथा क़ुरान की आज्ञाओं का ठीक अर्थ करना, और इन दोनों विषयों में शासक को सलाह देने का कार्य काज़ी, मुल्ला, या उलामा करते थे। साथ ही राजनीतिज्ञ, शासक को राजनीति-विषयक प्रश्नों पर, सलाह दिया करते थे। इस प्रकार प्रत्येक मुस्लिम शासक की राजसभा में दो प्रधान किन्तु विपरीत दल होते थे। दोनों दल शासक पर अपना अपना प्रभाव जमाने का भरसक प्रयत्न करते थे। धार्मिक दल सम्राट् को यह सुझाता था कि सब बातों में क़ुरान की ही आज्ञाओं का अक्षरशः पालन किया जाना चाहिए; दूसरी ओर राजनीतिज्ञ सम्राट् को यह बताते थे कि कभी कभी क़ुरान की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करना साम्राज्य के लिए हानिकारक होता है। यद्यपि अन्तिम निर्णय सम्राट् के हाथ में होता था फिर भी यह संघर्षण निरन्तर चलता ही रहता था। एक दल की या दूसरे दल की

सफलता या विफलता सम्राट् की मनोवृत्ति तथा उसके विचारों पर निर्भर रहती थी।

इस अध्याय में हम यह देखनेवाले हैं कि भिन्न भिन्न सम्राटों के शासन में कौन सा दल अधिक सफल हुआ, किस दल के विचारों से वे सहमत हुए, अपनी नीति को उन्होंने कहाँ तक कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न किया तथा उनकी नीति का साम्राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा।

ग़ुलाम-वंश

कुतुब ने जिस बादशाहत की नींव डाली वह कट्टर मुसलमानी बादशाहत थी। कुतुब स्वयं अपने स्वामी मुहम्मद ग़ोरी के साथ भारत में स्व-धर्म फैलाने तथा "दारुलहरब" को "दारुलइस्लाम" में परिणत करने आया था। यह सत्य है कि ग़ोरी तथा उसके अनुयायी मुहम्मद ग़ज़नी की भाँति धर्मान्ध न थे, और न उनका उद्देश्य केवल धर्मप्रचार ही था। वे भारत में एक साम्राज्य की स्थापना करने के लिए आये थे, किन्तु वे एक मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे। राजनैतिक विचारों के साथ ही, उनके हृदय में धर्म के प्रति प्रेम कूट कूट कर भरा था, क़ुरान ही उनके लिए सर्वोपरि वस्तु थी। नवीन धर्म ने उनके हृदय में एक अदम्य उत्साह भर दिया, और असहिष्णुता का हलाहल विष भी बहुत कुछ मात्रा में इन वीरों के मस्तिष्क में प्रवेश कर चुका था। अतः भारत के उस प्रथम मुसलमान सम्राट् ने लाखों हिन्दुओं को तलवार के घाट दूसरी दुनिया में उतार दिया। हिन्दुओं पर जज़िया भी लगाया गया, किन्तु फिर भी हिन्दुओं के साथ उदारता-

पूर्वक वर्ताव किया जाता था[1]। इस असहिष्णुता का कारण केवल धार्मिक विचार ही नहीं था; राजनैतिक दृष्टि से भी बहुत कुछ अंश में इसकी आवश्यकता थी। किन्तु विशेषतया इस समय धार्मिक विचार ही मुस्लिम समाज के नेताओं की नीति को निर्धारित करते थे, शासन-प्रबन्ध आदि का संगठन भी बहुत कुछ क़ुरान-द्वारा निर्धारित रीति पर ही किया गया था।

अपनी सत्ता बढ़ाने के लिए तथा भारतीय मुसलमानों की दृष्टि में भारतीय बादशाह को अधिक आदरणीय बनाने के लिए, और इस प्रकार भारत के इस नवीन मुस्लिम-साम्राज्य को सुदृढ़ आसन पर स्थित करने के लिए ही, अल्तमिश ने ख़लीफ़ा से अपना अभिषेक करवाया। अल्तमिश ने भारतीय शासनशैली को क़ुरान के आज्ञानुसार बनाने के लिए एक नवीन ढाँचे में ढाला। कर लागान आदि की दर तथा संख्या क़ुरान के नियमानुसार स्थिर की गई। इस्लाम-धर्म के प्रचार तथा पठन-पाठन के लिए राज्य की ओर से प्रबन्ध किया गया, और अन्य धर्म के प्रचारकों को कठोर दण्ड दिया जाने लगा।

अल्तमिश के बाद कई बादशाह हुए किन्तु उन्हें आपसी झगड़ों से फ़ुरसत नहीं मिली, अतः वे शासन में कुछ भी फेरफार न कर सके। नासिरुद्दीन सन् १२४६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ, किन्तु वह बड़ा ही धर्मात्मा था और

---

१. स्मिथः—आक्सफ़र्ड हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, पृष्ठ २२३.

ईश्वरीप्रसादः—हिस्ट्री आफ़ मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १३९.

एक सच्चे फ़क़ीर के समान जीवन व्यतीत करता था। उसके शासन-काल में उसका वज़ीर ग़यासुद्दीन बलबन ही कर्ता-धर्ता था। नासिरुद्दीन ने राज्य-शासन का सारा कार्य बलबन के हाथों सौंप कर छुट्टी पायी, और सुखपूर्वक बैठकर ईश्वर-भजन करता और क़ुरान की प्रतिलिपियाँ किया करता था। ग़यासुद्दीन बलबन, नासिरुद्दीन की मृत्यु तक वज़ीर था, और नासिरुद्दीन के बाद, वह स्वयं सम्राट् बन बैठा। बलबन कोई ४० वर्ष मन्त्री या सम्राट् बन कर शासन करता रहा, और इस काल में उसने साम्राज्य की शासन-पद्धति में परिवर्तन किया। प्रथम बार साम्राज्य की नीति को निर्धारित करने के लिए, क़ुरान की आज्ञाओं के अतिरिक्त अन्य बातों का भी विचार किया जाने लगा। बलबन ने देखा कि धार्मिक आज्ञाओं का अक्षरश: पालन करना साम्राज्य के लिए प्राय: हित-कर नहीं होता था। अल्तमिश ने एक सद्य: जीते हुए साम्राज्य को भग्न होने से बचाया था और उसको बहुत कुछ सुदृढ़ किया था, किन्तु उसकी नीति में अब परिवर्तन की आवश्यकता थी। बलबन ने भी हिन्दुओं के विद्रोहों को दबाया किन्तु उसमें प्रारम्भिक सुलतानों की सी धर्मान्धता नहीं थी। जैसे एक ओर वह यह नहीं चाहता था कि हिन्दू शक्तिशाली हों और फलत: साम्राज्य को भंग करें, उसी प्रकार दूसरी ओर वह मुसलमान विद्रोहियों को भी पूर्णरीति से दबा देना चाहता था, क्योंकि बलबन को मालूम था कि "हिन्दुओं के विद्रोहों से भी अधिक, मुसलमान अमीरों तथा मलिकों के पारस्परिक द्वेष तथा उनकी आपसी फूट के कारण साम्राज्य के विनष्ट होने की

आशङ्का थी।"[१] राज्य को बाहरी आक्रमणों तथा आन्तरिक विद्रोहों से बचाने के लिए, यह आवश्यक था कि साम्राज्य की स्थायी सेना योग्य, शक्तिशाली और सुसज्जित हो। भारत-विजय के तथा बादशाहत के प्रारम्भिक दिनों में शम्सी ग़ुलामों ने अपनी योग्यता तथा उपयोगिता प्रमाणित कर दी थी, किन्तु अब वे विलासिता में पड़ कर अयोग्य निर्जीव हो गये। प्रारम्भ में वे साम्राज्य के स्तम्भ थे, अतः शासकों के लाड़िले थे, किन्तु जब साम्राज्य सुदृढ़ हो गया तो उनको अधिक काम नहीं रहा, अतः अब उनमें पहिले की सी योग्यता न रही; वे साम्राज्य के लिए भार होगये। बलबन ने इन सब ग़ुलामों को निकाल बाहर किया। उसने इस बात का कुछ भी विचार नहीं किया कि ये सब ग़ुलाम मुसलमान थे या इनमें से कई उसके निकट-सम्बन्धी थे। सेना का पुनः संगठन किया गया, केवल योग्यता की कसौटी पर कस कर उसने सैनिकों को स्थान दिया। इस प्रकार बलबन के शासन-काल में प्रथम बार राज्य की नीति धार्मिक विचारों से प्रभावान्वित न हुई। बलबन ने शासक के पद को अधिक गौरवशाली बनाने का प्रयत्न किया, सम्राट् की सत्ता बढ़ाई और इस प्रकार स्वच्छन्द शासन का बीज बोया। इस प्रकार राजनीति पर से धार्मिक विचारों का प्रभाव हटाने तथा स्वच्छन्द शासन का प्रारम्भ करने में "बलबन अलाउद्दीन का अग्रगामी हुआ[२]।" बलबन ने जिस

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १५६.

२. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७४.

नवीन नीति का बीज बोया, वह अलाउद्दीन के शासन-काल में बहुत कुछ विकास को प्राप्त हुई।

गुलाम-वंश के पतन के साथ ही ख़िलजी-वंश का उत्थान हुआ। जलालुद्दीन फिरोज़ इस वंश का प्रथम सम्राट् था।

ख़िलजी-वंश।

वह बहुत ही धार्मिक तथा दयालु-प्रकृति का था, उसने ठगों और चोरों को भी बिना दण्ड दिये छोड़ दिया, मलिक छज्जू और उसके साथियों के प्रति भी दया का बर्ताव किया, किन्तु सिदीमौला के प्रति उसने कुछ भी दया न दिखायी। फ़क़ीर को भी राज्य-विद्रोह के अपराध में मृत्यु-दण्ड दिया[1]। इससे यह स्पष्ट है कि जलालुद्दीन भी नवीन विचार-धारा से प्रभावान्वित हुए बिना नहीं रह सका।

जब अलाउद्दीन सिंहासनारूढ़ हुआ तब स्वच्छन्द शासन का प्रवाह उमड़ रहा था, नवीन नीति पूर्ण वेग के साथ विकसित हो रही थी। "अलाउद्दीन पूर्ण विचार के अनन्तर इस परिणाम पर पहुँचा कि राजनीति तथा राज्य-शासन धर्मशास्त्र के नियमों तथा क़ुरान की आज्ञाओं से बहुत भिन्न हैं। राजकीय आज्ञाएँ बादशाह देता है, धार्मिक विषय-सम्बन्धी आज्ञाएँ क़ाज़ियों तथा मुफ़्तियों के निर्णय पर अवलम्बित हैं। इसी कारण जब कोई राजशासन-सम्बन्धी कार्य अलाउद्दीन के सम्मुख आता था, तो वह केवल प्रजा के लाभ का ही विचार करके अपना नीति निश्चित करता था, इस बात का वह कभी भी विचार न करता था कि

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३, पृष्ठ १४४-६.

उसकी नीति धर्मशास्त्र के अनुसार है या नहीं। राजनैतिक प्रश्नों को सुलझाने में वह कभी भी धर्मशास्त्र का मत जानने की परवाह नहीं करता था[१]।" अलाउद्दीन ने अपनी इस नीति को क़ाज़ी मुग़ीसुद्दीन के प्रति इस प्रकार प्रकट किया था। अलाउद्दीन ने कहा—"मैं यह नहीं जानता हूँ कि यह नीति न्यायानुकूल है या नहीं, किन्तु साम्राज्य की भलाई के लिए जो बात अवसरोचित प्रतीत होती है, वही मैं आज्ञा देता हूँ।" अलाउद्दीन ने स्पष्टतया यह बात प्रदर्शित कर दी कि यद्यपि उसकी बहुत सी आज्ञाएँ तथा उसका आचरण धर्मशास्त्र के विरुद्ध थे, किन्तु उनसे साम्राज्य तथा देश का लाभ होता था, और इसी विचार से वह धर्मशास्त्र की परवाह न करके अपनी ही नीति का अनुसरण किया करता था। अलाउद्दीन के विचारानुसार राजकाय कार्यों में धर्माधिकारियों का हाथ डालना अनुचित था, अतः उसने धर्माधिकारियों के मतानुसार चलना छोड़ दिया। न्याय-शासन सम्राट् के आज्ञानुसार होता था, पैग़म्बर साहब के क़ानून का पालन नहीं किया जाता था[२]। सम्राट् के विचारानुसार साम्राज्य की भलाई ही सब कुछ थी[३], अन्य किसी बात का विचार उसे नहीं सताता था।

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ रा, पृष्ठ १८३.

२. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण पृष्ठ २०९.

३. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ रा, पृष्ठ २०९.

अलाउद्दीन की आज्ञाएँ तथा उसके शासन की घटनाएँ इस नवीन नीति का स्पष्टीकरण करती हैं। साम्राज्य सुसंगठित तथा शक्तिशाली होना चाहिए, अतः सम्राट् ने साम्राज्य की शान्ति को निरन्तर भंग करनेवाले तथा राजकीय आज्ञाओं की अवहेलना करनेवाले समस्त अमीरों पर बड़ी सख्ती की। साम्राज्य की एकता को बनाये रखने तथा देश में चिरशान्ति स्थापित करने के लिए सम्राट् सर्वदा उत्सुक रहता था। अतः उसने मुसलमानों पर एक कठोर जासूसी विभाग स्थापित करके उनका सामाजिक जीवन नष्ट कर दिया। हिन्दुओं को दबाये रखने के लिए उनके साथ कठोरता का बर्ताव किया गया, किन्तु अलाउद्दीन के इस कठोर बर्ताव में, अलतमिश, फ़िरोज़ तुग़लक़, सिकन्दर लोदी आदि सम्राटों की सी असहिष्णुता की बू नहीं पाई जाती। साम्राज्य के हितार्थ ही अलाउद्दीन ने हिन्दुओं पर अत्याचार किये। उपर्युक्त कथन के प्रमाणस्वरूप अलाउद्दीन का वह वाक्य उद्धृत किया जाता है, जहाँ अलाउद्दीन ने क़ाज़ी मुग़ीसुद्दीन के प्रति हिन्दुओं के प्रति अपनी नीति का प्रतिपादन किया था। अलाउद्दीन ने कहा था—"इस बात का पूर्ण विश्वास रखो कि जब तक हिन्दू निर्धन नहीं हो जावेंगे, तब तक वे किसी भी तरह नरम तथा आज्ञाकारी नहीं बनेंगे[१]।" पुनः अलाउद्दीन को जब मालूम हुआ कि कुछ मंगोल, जिन्होंने इस्लाम-धर्म अङ्गीकार कर लिया था तथा जो "नये मुसलमान" कहलाते थे, सम्राट् के विरुद्ध एक षड्यन्त्र

१ इलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया खण्ड ३, पृष्ठ १८९.

रच रहे हैं, तब तो अलाउद्दीन क्रोध के मारे पागल सा हो गया। समानधर्मी होने का बन्धन, प्रजा के प्रति पुत्रभाव तथा अन्य पुरुषों के अधिकारों आदि का उसने नाम-मात्र के लिए भी विचार नहीं किया। ऐसे समय इस प्रकार के विचार कभी भी अलाउद्दीन के मस्तिष्क में नहीं उठते थे। उसने दण्ड देने में धर्मशास्त्र की अवहेलना की तथा भ्रातृत्व और पितृत्व के संबन्ध भी उसे अपने निश्चय से नहीं डिगा सके।......... सम्राट् की आज्ञा के अनुसार कोई २० या ३० हज़ार "नये मुसलमान" क़त्ल कर डाले गये[१]।"

किन्तु वे धर्माधिकारी, जो किसी समय साम्राज्य की नीति के विधाता थे, अब अपनी इस शक्तिहीन दशा को कैसे सह सकते थे। इसी दल से सम्बन्ध रखनेवाले इतिहासकार बरानी ने, अलाउद्दीन की मृत्यु के कोई अर्धशताब्दी के अनन्तर, जब इस घटना का वर्णन किया तो उसने अलाउद्दीन की भरसक निन्दा की। इस नवीन नीति का कारण बरानी के विचारानुसार यह था कि "अलाउद्दीन को पाण्डित्य छूकर भी नहीं निकला था; और न वह विद्वानों के सहवास में रहता था।.........बहुत ही कम विद्वान् अलाउद्दीन के पास जाते थे[२]।" इस प्रकार अलाउद्दीन के शासनकाल में ज्यों ज्यों यह नूतन नीति विकसित होती जाती थी, त्यों त्यों इसके प्रति विरोध भी उठने लगा। इस विरोध ने मुहम्मद तुग़लक़ के शासन-काल में भीषण स्वरूप धारण किया।

---

१ ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया खण्ड ३, पृष्ठ २०५-६.

१० ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया खण्ड ३, पृष्ठ १८३.

अलाउद्दीन की मृत्यु के अनन्तर पुनः अराजकता का प्रारम्भ हुआ। ख़ुसरू नामक एक हिन्दू ने, जो बाद में मुसलमान हो गया था, देहली के सिंहासन पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न किया किन्तु विफल हुआ। ग़यासुद्दीन तुग़लक ने तीन-चार वर्ष तक शासन किया, किन्तु वह वृद्ध था और अपने छोटे से शासनकाल में विद्रोहियों को दबाकर अराजकता कम करने तथा पुनः शासन-प्रबन्ध संगठित करने के अतिरिक्त कुछ भी कार्य नहीं कर सका।

तुग़लक-वंश

अलाउद्दीन की मृत्यु के कोई दस वर्ष बाद, जब मुहम्मद तुग़लक राजगद्दी पर बैठा तब उसने पुनः अला-उद्दीन की नीति का प्रारम्भ किया। उसने धर्माधिकारियों की अवहेलना की, जिससे यह सारा दल विरोध करने लगा। मुहम्मद के शासनकाल का समस्त इतिहास इस नवीन नीति के विकास तथा उसके प्रति विरोध का ही चिट्ठा है।

मुहम्मद स्वयं बड़ा ही धर्मात्मा था और सब धार्मिक बातों का बड़ी ही दृढ़तापूर्वक पालन करता था। प्रतिदिन नियमपूर्वक नमाज़ पढ़ता था[१]। उसे क़ुरान तथा हनीफ़ा की हिदाया नामक पुस्तक कण्ठाग्र थी[२]। फिर भी "वह अपने पूर्ववर्ती बादशाहों के समान धर्मान्ध नहीं था;

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ ६११-१२।

इब्न बतूता के भ्रमणः—पेरिस का संस्करण, भाग ३ रा पृष्ठ २१६-७।

२. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया खण्ड ३ पृष्ठ ५८०।

उसने हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता का बर्ताव किया। उसने सती आदि कुप्रथाओं को बन्द कर दिया; और इस प्रकार अपने हृदय की विशालता को पूर्णतया प्रकट किया[१]।" अपने इसी विशाल दृष्टिकोण के कारण ही धार्मिक होते हुए भी उसने अलाउद्दीन की उन्नतिशील नीति को अंगीकार किया। धर्माधिकारी जिस नीति के प्रशंसक थे, वह अलाउद्दीन की नीति से पूर्णतया विपरीत थी। इसी कारण मुहम्मद ने धर्माधिकारियों की अवहेलना की। उसने कुरान्-द्वारा निर्धारित चार करों के अतिरिक्त कई नये नये दूसरे कर भी लगाये। अलाउद्दीन के समान ही मुहम्मद भी इस बात का पक्षपाती था कि सम्राट् की राजसभा बड़ी ही प्रभावशाली और ऐश्वर्यपूर्ण हो और ऐसी राजसभा के निर्वाह के लिए केवल चार ही करों से आई हुई आमद पर्याप्त न थी[२]। सम्राट् ने हिन्दुओं को शासन तथा सेना-विभाग में बड़े बड़े ओहदे दिये। हिन्दू प्रजा को शान्तिपूर्वक रहने दिया। रणथम्भौर तथा चित्तौड़ के सुदृढ़ दुर्गों पर उसने इसलिए आक्रमण नहीं किया कि प्रथम तो उन्हें हस्तगत करना कठिन था और यदि सैकड़ों वीरों के बलिदान के अनन्तर जीते भी गये तो उन्हें सर्वदा अपने ही अधिकार में रखना एक कठिन समस्या थी। निष्पक्ष भाव से विचार करनेवाले

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २३०।
२. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४१।

को उपर्युक्त बातें ठीक ही जँचेंगी, किन्तु धर्माधिकारियों का दृष्टिकोण पहिले से ही मुहम्मद के विरुद्ध था, अतः वे इस नीति को समझ नहीं सकते थे। अपने विचारों के विरुद्ध सम्राट् को आचरण करते देखकर वे चिढ़ गये और उसको कड़ी आलोचना तथा निन्दा करने लगे। और साथ ही साथ जब अपने अधिकारों पर आघात पहुँचते देखा तब तो यह दल खुल्लमखुल्ला सम्राट् का विरोध करने को उतारू होगया। सम्राट् एक न्यायप्रिय शासक था और अकबर के समय तक वह "न्यायी मुहम्मद" ही कहलाता रहा[१]। उसे मालूम था कि धर्मवेत्ताओं द्वारा कई बार न्याय के नाम पर अन्याय किया जाता था, अतः उसने न्याय-विभाग को सुसंगठित किया और न्याय-सम्बन्धी सब बातों का अन्तिम निर्णय अपने ही हाथ में रखा। जब कभी धर्मवेत्ताओं के निर्णय से मुहम्मद का मतभेद होता था, तो पहिले वह धर्मवेत्ताओं को अपने निर्णय का कारण समझाता था और उन्हें अपना निर्णय बदलने के लिए कहता; यदि फिर भी धर्मवेत्ता मुहम्मद के निर्णय से सहमत नहीं होते तो मुहम्मद उनके निर्णय को रद्द करके अपना अन्तिम निर्णय देता था। मुहम्मद ने कई राज्य-कर्मचारियों को भी कई प्रकार के अपराधों पर न्याय करने के लिए अधिकार दे दिये। अपराधी मुसलमानों को भी मृत्युदण्ड दिया जाने लगा। पुनः यदि सैयदों तथा धर्माधिकारियों का षड्यन्त्रकारियों के साथ कुछ भी सम्बन्ध पाया जाता तो उन्हें भी कड़ी सज़ा दी जाती थी।

---

१. मुहम्मद तुग़लक पर गार्डनर ब्राउन के लेख से।

जब न्यायालयों में इस प्रकार का निष्पक्ष न्याय किया जाने लगा, तथा किसी भी पुरुष को न्यायानुसार दिये गये दण्ड से मुक्त नहीं किया गया, तब तो धर्माधिकारियों के असन्तोष का सागर पूर्ण वेग के साथ उमड़ पड़ा। इसी निष्पक्ष न्याय की धर्माधिकारियों ने जी भर कर निन्दा की; वे ऐसे सम्राट् की आज्ञा मानने को तय्यार न थे, जो शेखों और सैयदों को भी दण्ड देता था और जिसके राज्य में उच्च कुल में जन्म, उच्च पद, धर्मनिष्ठा आदि किसी भी अपराधी को न्यायोचित दिये गये दण्ड से मुक्त नहीं कर सकते थे। सम्राट् की इसी निर्भयता तथा निष्पक्षता से आश्चर्यचकित होनेवाले इब्न बतूता ने जब भारत से हज़ारों मील दूर अपने देश में अपना भ्रमण-वृत्तान्त लिखना प्रारम्भ किया, तब यद्यपि उसे सम्राट् मुहम्मद का न तो किसी प्रकार का डर था और न उससे किसी नवीन पुरस्कार के पाने की आशा ही थी, फिर भी वह यह लिखे बिना नहीं रह सका कि "सब मनुष्यों में वह (मुहम्मद) बहुत ही न्याय-प्रिय है[1]।" किन्तु धर्माधिकारी इतनी निष्पक्षता से विचार नहीं कर सकते थे। अपने अधिकारों के चले जाने के कारण वे सम्राट् के कट्टर वैरी होगये, सम्राट् की आज्ञाओं के पालन में तथा राज्यकार्य में बाधा डालने लगे। स्थान स्थान पर विद्रोहाग्नि भड़कने लगी, पुराने स्वामिभक्त प्रान्तीय शासकों के कान सम्राट् के विरुद्ध भरे जाने लगे। सन् १३३५ ई० के बाद मुहम्मद को

---

1. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४२।

शान्ति नहीं मिली, सारे साम्राज्य में विद्रोह का दावानल एकबारगी ही भड़क उठा, ज्यों ही एक ओर शान्ति स्थापित की जाती त्यों ही दूसरी ओर विद्रोह उठ खड़ा होता। अपने जीवन के अन्त तक सम्राट् अराजकता के भीषण बवण्डर का सामना करता रहा और सन् १३५१ ई० में ऐसे ही विद्रोहियों का पीछा करते करते सिन्ध के बालुकामय प्रदेशों में थत्ता के क़िले के सम्मुख मर गया। किन्तु उन धर्मान्धों ने मृत्यु के बाद भी उसका पीछा नहीं छोड़ा; उसी दल के इतिहासकार बरानी ने मुहम्मद को एक क्रूर, रक्तपिपासु सम्राट् चित्रित करने का भरसक प्रयत्न किया है।

मुहम्मद की मृत्यु के साथ ही पुनः धर्माधिकारियों ने राज्य-शासन तथा नीति को दबोच लिया। मुहम्मद के निर्बल धर्मान्ध उत्तराधिकारी फ़िरोज़ के समय में उलेमा पुनः शक्तिशाली हो गये और उन्होंने परामर्श दिया कि राज्य-शासन-पद्धति पुनः क़ुरान-द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार स्थापित की जावे।[१] मुहम्मद तथा अलाउद्दीन की नीति के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई थी, फ़िरोज़ के शासन-काल में उसका पूर्ण दौर-दौरा रहा। फ़िरोज़ इस प्रतिक्रिया का मूर्तिमान स्वरूप था, उसके विचार बहुत ही संकीर्ण थे। मुहम्मद आदि की नीति से एकीकरण काल का उद्भव हुआ था और भिन्न भिन्न कारणों से भिन्न भिन्न विचारवाले पुरुष मुहम्मद की नीति को नष्ट करने के लिए एकत्रित हुए थे,

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडियावल इण्डिया द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४६७-८.।

अतः जब मुहम्मद की मृत्यु के अनन्तर उस नीति का पोषक कोई न रहा तो प्रतिक्रिया का प्रवाह ज़ोरों से बहा। फ़िरोज़ इस एकीकरण काल का एक सच्चा प्रतिनिधि था। मुहम्मद की नीति के प्रति जो विरोध बढ़ रहा था, उसने उसकी मृत्यु के अनन्तर एक नवीन स्वरूप धारण किया। प्रतिक्रिया के साथ एक ऐसी नीति आरम्भ हुई, जिसके अनुसार नतमस्तक होकर शासकों ने अपनी सत्ता धर्माधिकारियों के चरणों में रख दी और शासक-गण आँखें बन्द करके धर्माधिकारियों की आज्ञाओं को सिर-आँखों पर रखने और उनका अक्षरशः पालन करने लगे। फ़िरोज़ स्वयं एक भीरु निर्बल हृदयवाला पुरुष था। धर्माधिकारियों ने उसे अपने हाथ की कठपुतली बना ली। फ़िरोज़ की नीति धर्मान्धता पर ही स्थित थी, उसने सब बातों में क़ुरान को ही सर्वोपरि माना।[१] करों की संख्या घटा दी गई। कई बार केवल इसी विचार से कि युद्ध में मुसलमानों की हत्या होगी, विजयी सेना को युद्धक्षेत्र छोड़कर लौट जाने की आज्ञा दी गई।[२] मुसलमान, शासकों के, लाड़िले होगये। विलासिता के कारण सेना पहिले की सी युद्धदक्ष न रही।[३] न्याय-शासन पुनः क़ाज़ी, मुल्लाओं के हाथ में चला गया और उलेमा ही अब साम्राज्य

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया। खण्ड ३, पृष्ठ २७७।
२. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया। द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७०।
३. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया। द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७१ तथा २८९।

की नीति के विधाता होगये।[1] इन्हीं के प्रभाव से प्रभावान्वित होकर हिन्दुओं पर पुनः जज़िया कर लगा दिया गया, ब्राह्मण भी उससे मुक्त न रह सके।[2] हिन्दू-मन्दिर विध्वंस कर दिये गये। शिया मुसलमानों पर भी सख़्ती की गई।[3] किन्तु इस धर्मान्धता का साम्राज्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। साम्राज्य का पतन होने लगा और फ़िरोज़ की मृत्यु के अनन्तर समस्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

अराजकता का काल!

सन् १३८८ ई० से १४५० ई० तक देहली-साम्राज्य नाम-मात्र को स्थित था, उस साम्राज्य के अन्तर्गत देहली तथा आस-पास के कुछ गाँवों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह गया था। और इस रहे-सहे साम्राज्य में भी निरन्तर गृह-कलह चलता रहता था। अराजकता की जड़ ऐसी जमी कि बहलोल लोदी को भी अपने ३८ वर्ष के शासन-काल में स्वाधीन राज्यों को पुनः जीतने तथा साम्राज्य-शासन को सुदृढ़ करने का समय नहीं मिला। लोदियों ने फ़िरोज़ की विफलता को

लोदी-वंश।

देख कर तथा उसके कटु फल को चख कर भी कुछ लाभ नहीं उठाया।

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४६८।

२. स्मिथः—आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, पृष्ठ २५१। ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ रा, पृष्ठ ३८०।

३. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ रा, पृष्ठ ३७७-८.।

सिकन्दर लोदी ने पुनः धर्मान्धनीति का अनुसरण किया, हिन्दुओं को दवाने तथा उन्हें पीड़ा देने के लिए पुनः प्रयत्न किये गये।[१] इस्लाम अब सल्तनत का शाही धर्म हो गया। हिन्दुओं के कई मन्दिर ढहा दिये गये, और मथुरा में स्नानघाट के सामने मसजिद तथा मुसलमानों के लिए बाज़ार बनवाये गये[२]। एक ब्राह्मण ने जब मुसलमानों के सम्मुख स्वधर्म-प्रशंसा की तो वह क़ैद कर लिया गया और धर्माधिकारियों के अनुसार उसे इस्लाम-धर्म स्वीकार करने के लिए कहा गया, और जब उसने ऐसा करने से इनकार किया तो वह मार डाला गया[३]। हिन्दुओं में इन दिनों धार्मिक जाग्रति सी हो रही थी, सिकन्दर की इस असहिष्णुता ने उसे उत्तेजना दी। हिन्दुओं की सत्ता बढ़ रही थी, समस्त भारत में उनमें पुनर्जीवन के लक्षण दिखायी दे रहे थे। सिकन्दर की असहिष्णुता का प्रभाव यह हुआ कि हिन्दुओं का मुसलमान-साम्राज्य के प्रति वैमनस्य बढ़ गया। साम्राज्य की शक्ति के मूल में कुठाराघात हुआ, और जब इब्राहीम के समय में अफ़ग़ान अमीरों ने विद्रोह किया तो साम्राज्य हिलने लगा, और मुग़लों की आक्रमणरूपी आँधी को न सह कर भारत का प्रथम मुस्लिम-साम्राज्य ढह गया।

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया. द्वितीय संस्करण, पृष्ट ४४४।
स्मिथः—आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, पृष्ट २९३-४.
२. हेवेलः—हिस्ट्री आफ़ आयर्न रूल इन इण्डिया, पृष्ट ३८०।
३. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डियाः खण्ड ३, पृष्ट ४६४।

इस प्रकार हमें देख पड़ता है कि पूर्व-मध्यकाल में केवल दो ही सम्राट् ऐसे थे जिन्होंने अपनी नीति को धार्मिक असहिष्णुता के कीचड़ में नहीं धँसने दिया। इसी विशेषता के कारण इन सम्राटों को भारतीय इतिहास में उच्च स्थान दिया जाता है।

यह सत्य है कि इन तीन शताब्दियों में ऐसे केवल दो ही महान् सम्राट् हुए, किन्तु ऐसे दो सम्राटों का होना ही भारतीय इतिहास को उज्ज्वल करता है। योरोप में १४ वीं और १५ वीं शताब्दी में भी ऐसे महान् सम्राट् केवल एक-दो ही मिलेंगे।

इन दो सम्राटों से भारतीयों की राजनीतिज्ञता का अच्छा परिचय मिलता है। ये सम्राट् संसार के उन महान् राजनीतिज्ञों में से थे, जो धर्मान्धता तथा स्वार्थ के दलदलों को पार कर ऐसी ऊँचाई पर पहुँचते हैं, जहाँ से उन्हें स्पष्टतया देख पड़ता है कि साम्राज्य के हितार्थ किस नीति का अनुसरण करना चाहिए। तत्कालीन इतिहास-लेखक उनकी नीति की महत्ता को, उनके हृदय की विशालता को, नहीं समझ सके। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, और ज्यों ज्यों धर्मान्धता का वह गहरा कुहरा हटता जाता है, त्यों ही त्यों इन महान् सम्राटों की महत्ता का पता लगता है।

३

प्रथम भारतीय मुसलमानी बादशाहत।

१

प्रथम भारतीय मुसलमानी बादशाहत ।

संसार परिवर्तन-शील है, समय के साथ ही आचार-विचार तथा आदर्श भी परिवर्तित होते रहते हैं। जो बातें कल आदर्श समझी जाती थीं, जिनसे कल यह आशा की जाती थी कि वे मानव-समाज को सुखी करेंगी, वे समय के साथ आज बुरी तथा मानव-समाज की उन्नति की बाधक समझी जाती हैं।

आजकल प्रजातंत्र शासन का ही दौरदौरा है। प्रत्येक राष्ट्र का प्रवाह इसी ओर बढ़ रहा है। स्वच्छन्द शासन का क्योंकर अन्त किया जा सकता है, यही ढूँढ़ निकालने के लिए सर्वत्र प्रयत्न किये जा रहे हैं। प्रजातन्त्र के पक्षपाती अपने पक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिए इस बात में लगे हुए हैं कि स्वच्छन्द शासन के सब दोषों को ढूँढ़ कर, इस शासन-पद्धति विशेष को बदनाम करें। इन व्यक्तियों ने आधुनिक ही नहीं, किन्तु प्राचीन तथा मध्यकालीन स्वच्छन्द शासन की भी, भरसक बुराई की है। किन्तु अपने पक्ष के समर्थन करने के उत्साह में वे इस बात को भूल जाते हैं कि समाज भी समय के साथ विकसित होता है; जो बातें आज शक्य हैं, जो शासन-पद्धति आधुनिक विकसित समाज में सफल हो सकती है, उसी का कुछ ही काल पहिले सफल होना, कठिन ही नहीं, पूर्णतया असम्भव था। प्रजातन्त्र शासन-

पद्धति को ग्रहण करने के लिए आज सब राष्ट्र उत्सुक से हो रहे हैं, किन्तु कोई दो शताब्दी पहिले इसका विचार-मा भी हास्यजनक समझा जाता था। मध्यकाल में स्वच्छन्द शासन ही शासन का सबसे अच्छा स्वरूप था। इस बात को प्रत्येक इतिहासवेत्ता स्वीकार करेगा कि प्रजातन्त्र शासन की तरह स्वच्छन्द शासन-पद्धति में भी कई दोष हैं। निर्बल तथ कुशासकों के हाथ में पड़कर राष्ट्र तथा समाज की दशा बिग जाती थी, किन्तु साथ ही साथ यह भी याद रखन चाहिए कि नवीन विचारों तथा शासन-सम्बन्धी सुधारों को कार्यरूप में परिणत करना, और इस प्रकार देश की भला करना, केवल एक स्वच्छन्द सुशासक ही कर सकता था।

स्वच्छन्द शासन का स्वरूप भी, समय समय पर परिवर्ति होता रहा है, कभी शासन धर्मप्रधान रहा तो कभी सेना क प्राधान्य रहा, और कभी कभी तो अमीरों तथा जागीरदारों क ही दौरदौरा रहा। प्रत्येक देश में ये परिवर्तन हुए, औ भारत इस साधारण नियम का अपवाद नहीं था।

.कुरान के अनुसार मुस्लिम-साम्राज्य।

.कुरान के अनुसार शासक केवल मुसलमानों का ह सेनापति था[१]। अपने समस्त राजकीय कार्यों के लिए, व अपनी मुस्लिम प्रजा के प्रति उत्तरदार था। प्रत्येक मुस्लिम राज्य में सेना क प्राधान्य होता था, और प्रत्येक राज

१. इस विभाग के लिए देखोः—
एलफिन्स्टनः—हिस्ट्री आफ इण्डिया,
Book VIII-अध्याय २, पृष्ठ २७१-७८।

का अस्तित्व उस सेना के प्रधान सेनापति सुलतान या सम्राट् की ही अनियन्त्रित शक्ति पर स्थित रहता था। साथ ही साथ, क़ुरान के अनुसार प्रत्येक मुस्लिम साम्राज्य धर्म-प्रधान भी होता था। मुस्लिम साम्राज्य का शासक परमपिता ईश्वर ही माना जाता था, और सुलतान या सम्राट् ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था। सुलतान का यह कर्तव्य था कि क़ुरान-द्वारा बताई हुई ईश्वरीय इच्छा को कार्यरूप में परिणत करे। इस प्रकार मुस्लिम सम्राट् मुसलमानों का, राजनैतिक ही नहीं, धार्मिक शासक भी था। अपनी इस सम्मिलित सत्ता के कारण वह बहुत ही शक्तिशाली हो जाता था। अपनी इस महती शक्ति का दुरुपयोग न करे, इसलिए शासक के लिए कई बन्धन रखे गये थे। शास्त्रानुसार प्रत्येक मुस्लिम शासक क़ुरान का आज्ञापालक, तथा स्वतन्त्र समानाधिकारवाले मुसलमानों द्वारा चुना हुआ नेता समझा जाता था। अतः यदि कोई शासक क़ुरान के किसी नियम को भंग करे तो वह अधिकारच्युत किया जा सकता था। उलेमा तथा मुल्लाओं को यह अधिकार था कि वे शासक के विरुद्ध घोषणा करके उसे सिंहासन से च्युत कर दें। इस प्रकार सिद्धान्तानुसार शासक पर कई बन्धन थे, किन्तु आचरण में शासक की स्वेच्छाचारिता

१—सरकारः—मुग़ल एडमिनिस्ट्रेशन. द्वितीय संस्करण, अध्याय १, २ (केवल Section I), ६, तथा ८.

सरकारः—स्टडीज़ इन मोग़ल इण्डिया, पृष्ठ २१०-२. स्मिथः आक्सफ़र्ड हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, पृष्ठ २९८.

ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, अध्याय १८, पृष्ठ ४६६-४७०.

पर ये बन्धन नाम-मात्र को भी नहीं थे। स्वेच्छाचारी शासकों की शक्ति को बन्धन में डालना एक कठिन समस्या थी। उस समय न तो कोई ऐसी राजनैतिक व्यवस्था थी और न कोई ऐसी सुव्यवस्थित सभा ही थी, जो शासक के समस्त कार्यों पर विचार कर सकती तथा जिसके प्रति शासक को अपने दुष्कर्मों के लिए उत्तरदायी होना पड़ता। शासक को बिना युद्ध के सिंहासनच्युत करना एक असम्भव बात थी। उलेमा, क़ाज़ी तथा अन्य धर्माधिकारी इस बात पर विचार कर सकते थे कि शासक ने कहाँ तक कुरान की आज्ञाओं का पालन किया, किन्तु धर्मवेत्ताओं तथा धर्माधिकारियों की ऐसी कोई सुसंगठित सभा न थी, अतः जिन शासकों को सैनिकों की सहायता का भरोसा होता था, उनके कार्यों के लिए कुछ भी पूछताछ करना, अपनी मृत्यु को मोल लेने के समान था। दैनिक आचरण में तो यह सम्भव है कि शासक तथा उसकी सेना में बहुत मेल न हो किन्तु शास्त्रानुसार सेना केवल बादशाह की ही आज्ञा मान सकती थी; न तो उलेमा या अन्य धर्माधिकारी, और न कोई मन्त्री ही सेना को आज्ञा दे सकता था। शासक ही सेना के एक-मात्र सेनापति थे, अतः सेना सर्वदा शासक की ही सहायता करती थी, इसी कारण मुस्लिम शासकों की शक्ति को बन्धन में डालने या उन्हें सिंहासनाच्युत करने के प्रयत्न में धर्माधिकारी सर्वदा विफल-मनोरथ हुए। ऐसी दशा में केवल दो बातों का डर ही सम्राट् की शक्ति को नियन्त्रित कर सकता था, "प्रथम तो सेना का विरोध और दूसरे समाज का विरोध और उसके फलस्वरूप शासक का मारा

जाना।" शासकों को यदि कोई डर रहता था, तो केवल यही कि कहीं देश में विद्रोह न उठ खड़े हों, या कहीं कोई असन्तुष्टवर्ग उसे इस लोक से बिदा न कर दें। इतिहास उपर्युक्त कथन की सत्यता की गवाही दे रहा है।

एक और ज्ञेय बात यह है कि योरोपीय सम्राट् के पद के समान, मुस्लिम सम्राट् का पद भी जन-नियुक्त था, किन्तु उसी पद के समान यह पद भी कभी कभी कुलक्रमागत हो जाता था।

किन किन कारणों से उपरोक्त शासन-पद्धति भारत में पूर्णतया प्रचलित नहीं हुई?

उपर्युक्त शासन-विधि भारत में पूर्णरूपेण प्रचलित नहीं हुई। कई कारणों से उसमें बहुत कुछ विभिन्नता आ गई थी। भारत इस्लाम-धर्म की जन्मभूमि से बहुत दूर था, अतः देश-काल के अनुसार ऐसे ऐसे कारण उपस्थित हुए जिनके फलस्वरूप उपर्युक्त शासन-पद्धति में आवश्यक परिवर्तन करना पड़े। प्रथम परि-वर्तन धार्मिक भावना में हुआ। जो मुसलमान भारत में आये थे, तथा जिनके द्वारा भारत में मुस्लिम-साम्राज्य स्थापित हुआ, वे एक तरह मुस्लिम संसार से पूर्णतया पृथक् हो गये थे। भौगोलिक कठिनाइयाँ तथा आने जाने में असुविधा के कारण भारतीय मुसलमानों की विचार-धाराएँ तथा अन्य बातें अन्य देशीय मुसलमानों से पूर्णतया पृथक् होगई। भारतीय मुसल-मानों ने अन्य देशीय मुसलमानों से पृथक् होकर एक नवीन सम्मिश्रित विचारधारा, सभ्यता, कला आदि का प्रारम्भ किया, जो मुसलमानों के इतिहास में एक अनोखी वस्तु

है। यद्यपि कई सम्राटों ने—विशेषतया अल्तमिश, मुहम्मद तुग़लक़ फ़िरोज़ तुग़लक़ ने नाम-मात्र को ख़लीफ़ा की मदद ली, किन्तु प्रायः अन्य भारतीय मुस्लिम शासकों ने ख़लीफ़ाओं की परवाह न की। भारत पर 'भारतीय' सम्राट् ही शासन करते थे चाहे वे मुस्लिम धर्म के अनुयायी ही क्यों न हों। यद्यपि अन्य मुसलमान सम्राटों के लिए यह अत्यावश्यक था कि वे ख़लीफ़ा की अधीनता स्वीकार करें, किन्तु सुदूरस्थित भारतीय मुस्लिम शासकों ने कभी भी इस बात को ओर ध्यान नहीं दिया। यदि कभी उन्होंने ख़लीफ़ा की ओर कुछ ध्यान भी दिया, तो केवल अपने स्वार्थ के लिए या धर्माधिकारियों की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करने के लिए। पुनः भारत में ख़ुतबा शासक के नाम से ही पढ़ा जाता था, ख़लीफ़ा के नाम का तो उसमें उल्लेख भी नहीं होता था। इस प्रकार भारतीय मुस्लिम शासकों ने ख़लीफ़ा की सत्ता की परवाह न की।

भारत में मुस्लिम क़ानून भी यहाँ के आचार-विचार तथा सामाजिक दशा के अनुसार परिवर्तित हो गया। ज्यों ज्यों मुसलमानों का साम्राज्य दूर दूर फैलता गया त्यों त्यों उन्हें प्रतीत हुआ कि जिस देश में वे शासन करते हैं, वहाँ की रीतियों के तथा राजनैतिक अवस्था के अनुसार न्याय-शासन-पद्धति में परिवर्तन करना आवश्यक है। अतः न्याय-सम्बन्धी बातों में भी क़ुरान पूर्णरूपेण एक-मात्र आधार नहीं रहा। तद्देशीय रीतियों पर तथा तत्कालीन शासकों की इच्छा पर स्थित एक नूतन न्याय-शासन की सृष्टि हुई। भारत में न्यायालय दो प्रकार के पाये जाने लगे, एक

प्रकार के वे न्यायालय थे, जहाँ सारा कार्य कुरान के आज्ञानुसार होता था, दूसरे प्रकार के न्यायालय वे थे, जहाँ राज्य के कार्यकर्ता स्वेच्छा तथा स्वविचारानुसार न्याय करते थे।

अन्यधर्मानुयायियों के प्रति अपनी नीति में भी मुसलमानों को भारत में आकर परिवर्तन करना पड़ा। भारत एक बहुत लम्बा चौड़ा देश है और उस समय सारे देश में हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि धर्मानुयायी ही थे। मुसलमानों की संख्या बहुत ही कम थी। हिन्दू यह बात कभी भी नहीं भूल सकते थे कि मुसलमानों ने उनकी स्वाधीनता हरण की थी। अपने गौरव-पूर्ण दिनों को राजपूत क्योंकर भूल सकते थे? उनके राज्य नष्ट होगये थे किन्तु इस बात के लिए वे सर्वदा तत्पर रहते थे कि समय मिलते ही विद्रोह का झण्डा उठावें। ऐसे साम्राज्य को अधिकार में रखने के लिए मुसलमानों को सुसज्जित सेना तथा सैनिक संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई। प्रारम्भिक मुस्लिम सम्राटों ने अपने शासन में सेना को इसी लिए प्राधान्य दिया। पुनः इस्लाम-धर्म से इतर धर्मानुयायियों के प्रति क्या बर्ताव किया जाना चाहिए यह प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ। इन इतर धर्मानुयायियों की संख्या इतनी बड़ी थी कि "इस्लाम-धर्म स्वीकार करो या मरने को उद्यत हो" वाली बात भारत में नहीं कही जा सकती थी। भारतवासियों में धार्मिक कट्टरता कूट कूट कर भरी गई थी, अतः इस्लाम-धर्म को स्वीकार करनेवालों की संख्या बहुत ही थोड़ी थी। इसी कारण जहाँ अन्य देशों में अन्यधर्मावलम्बियों के प्रति भीषण

क्रूरता का वर्ताव किया गया, वहाँ भारत में अपने साम्राज्य में रहनेवाले हिन्दुओं पर केवल जज़िया ही लगाकर मुसलमान सम्राटों ने सन्तोष कर लिया।

इस्लाम-धर्म का भारत पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। तलवार भारत से इस्लाम-धर्म ग्रहण न करवा सकी। विधर्मियों से सम्बन्ध रखनेवाले इसी प्रश्न से धर्म तथा साम्राज्य की नीति में झगड़ा उठा, और कोई अर्धशताब्दी तक भीषण तीव्रता के साथ चलता रहा।

भारत में यद्यपि सम्राटों को ख़लीफ़ा की सत्ता का कोई डर नहीं था, फिर भी उनकी शक्ति पर कई नये बन्धन पड़ गये। यहाँ शासकों को हिन्दुओं के तथा अन्य धर्मावलम्बियों के विरोध का भी विचार करना पड़ता था। हिन्दुओं के विद्रोह का डर सर्वदा बना रहता था। इस नवीन बन्धन का अनुभव प्रथम बार अलाउद्दीन को हुआ, और इसको तोड़ डालने के लिए ही उसने हिन्दुओं के प्रति दमन-नीति का प्रयोग किया। पुनः भारतीय मुस्लिम-साम्राज्य कई सूबों में विभक्त था, और प्रत्येक सूबे का शासन सूबेदार करते थे, जो एक तरह से पूर्णतया स्वच्छन्द थे और जिनकी शक्ति बहुत बढ़ी चढ़ी थी। इन सूबेदारों के विद्रोह का डर भी प्रायः शासक को हानिकारक कार्य नहीं करने देता था। बलबन को मालूम हुआ कि इस तरह सम्राट् की शक्ति पर एक बड़ा बन्धन पड़ जाता था, अतः उसने इस बात की कठोर आज्ञा दी थी कि महत्त्व के कार्यों में सूबेदारों के लिए यह अत्यावश्यक है कि वे सम्राट् की आज्ञा लें। साथ ही इस बात का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया कि सूबेदार सम्राट् की

आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करें। गुप्तचर-प्रथा भी इसी बन्धन को शिथिल करने का एक प्रयत्न थी[1]।

पूर्व-मध्यकालीन भारत के सम्राटों में तत्कालीन देश तथा काल के प्रभाव से तीन विशेषतायें पाई जाती हैं।

पूर्वमध्यकालीन भारत के सम्राटों की तीन विशेषतायें।

(१) प्रथम तो अन्य मुस्लिम देशों के समान ही भारत में प्रायः प्रत्येक सम्राट् का चुनाव होता था। सम्राट् अपना उत्तराधिकारी नियत करता था किन्तु उसके मरते ही उसकी वसीयत को भी कोई नहीं पूछता था। अलतमिश, बलबन, अलाउद्दीन जैसे शक्तिशाली सम्राटों की वसीयत की भी किसी ने परवाह न की। सम्राट् का चुनाव किसी नियमविशेष के अनुसार नहीं होता था, कुछ शक्तिशाली अमीर मिलकर किसी न किसी को सिंहासन पर बिठा देते थे। जब किसी वंशविशेष का कोई भी उत्तराधिकारी नहीं रहता तो किसी दूसरे योग्य व्यक्ति को चुन कर दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ कर देते। जलालुद्दीन ख़िलजी और ग़यासुद्दीन तुग़लक़ का, चुनाव के अतिरिक्त, देहली के सिंहासन पर कोई भी हक़ नहीं था। कई बार यह सम्मति शासक के गद्दी पर बैठ जाने के बाद दी जाती थी; ऐसे समय सम्मति क्या दी जाती थी, केवल शक्तिशाली व्यक्ति का विरोध न कर सब उसकी सहायता करने तथा कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। बलबन, अलाउद्दीन और मुहम्मद के राज्यारूढ़ होने के समय किसी ने चुनाव का नाम भी नहीं लिया, जब

१—ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६३।

वे सिंहासनारूढ़ होगये तो सबने उन्हें अपना शासक मान लिया।

(२) दूसरी विशेषता यह थी कि पूर्व-मध्यकालीन भारत के सब महान् तथा योग्य सम्राट् अच्छे योद्धा, तथा महान् सेनापति थे। इस बात का उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं कि भारत में मुसलमानों की संख्या बहुत ही थोड़ी थी, और हिन्दुओं के विद्रोह की आशङ्का सर्वदा बनी रहती थी, अतः मुस्लिम-साम्राज्य के सैनिक संगठन को सुदृढ़ करना पूर्णतया आवश्यक था। इसी कारण कई निर्बल शासक सिंहासनाच्युत कर दिये गये जिससे कि शासकों की निर्बलता के कारण कहीं साम्राज्य भङ्ग न हो जाय। यह सत्य है कि कई बार शक्तिशाली अमीर स्वार्थसिद्धि के लिए निर्बल शासक को गद्दी पर बिठा देते थे, किन्तु सर्वदा महान् सेनापति होने का यह गुण उसके सम्राट् चुने जाने में बहुत ही सहायक होता था। "जिसकी लाठी, उसकी भैंस" वाला ज़माना था, इसी कारण शक्तिहीन शासकों को पदच्युत कर दिया जाता था।

(३) अन्तिम उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि कुछ को छोड़ कर शेष सब सम्राटों ने धार्मिक विषयों में अधिक छेड़-छाड़ न की। यद्यपि धार्मिक बातों में सम्राटों की सत्ता एक तरह से सर्वमान्य थी, फिर भी उन्होंने धार्मिक अधिकार धर्माधिकारियों के हाथ में ही रहने दिये। धर्म-विषयक बातों में धर्माधिकारियों का मत ही सर्वोपरि होता था। अन्य राजकीय शासन-सम्बन्धी बातों में धर्माधिकारियों का बहुत ही कम हाथ था। फ़िरोज़,

सिकन्दर आदि एक दो सम्राटों को छोड़ दिया जावे तो अन्य शासकों के काल में शासन की गति निर्धारित करने में धर्माधिकारियों का बहुत ही कम हाथ था। क़ाज़ी, उलेमा आदि का काम प्राय: शिक्षा देना, न्याय-शासन करना, विवाह आदि धार्मिक संस्कार ही था।

इस प्रकार हम पूर्व-मध्यकालीन सम्राटों के साधारण गुणों की विवेचना कर सकते हैं, किन्तु इन सम्राटों में बहुत ही कम समानता पाई जाती है। उनमें जो भिन्नता पाई जाती है, उस पर विचार करके हम इस काल को पाँच विभागों में यों विभक्त कर सकते हैं।

पूर्व-मध्यकालीन भारतीय इतिहास के पाँच विभाग।

१. सैनिक काल—(Military monarchy) १२०६ से १२६४ ई० तक।
२. उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन-काल—(The Enlightened Despotism) सन् १२६४ ई० से १३५१ ई० तक।
३. धर्मप्रधान शासन—(Theocratic monarchy), १३५१ से १३८८ ई० तक।
४. अराजकता काल तथा निर्बल शासन १३८८ ई० से १४५० ई० तक।
५. जागीर-प्रथा के अनुसार संगठित साम्राज्य (Feudal monarchy) १४५० ई० से १५२६ ई० तक।

ये विभाग अपनी भिन्न भिन्न राजनैतिक प्रगतियों ही के कारण किये गये हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन पाँचों विभागों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध

नहीं है। प्रत्येक काल का पूर्वगामी काल से प्रादुर्भाव हुआ है और दूसरा प्रथम का अत्यावश्यक परिणाम है।

(१) सैनिक शासनकाल—(१२०६ ई० से १२९४ ई० तक) गोरी ने अपने सेनापतियों की सहायता से कोई १६ वर्ष में उत्तरी भारत का बहुत कुछ भाग जीत लिया था, किन्तु यह विजय केवल ऊपरी विजय थी, भारत की आत्मा तथा उसकी प्राचीन सभ्यता पर इस विजय का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। हिन्दू इन तुर्क विजेताओं के प्रति घृणा करते थे, क्योंकि हिन्दुओं के समान ये विजेता अपनी खुद की किसी भी सभ्यता का अभिमान नहीं कर सकते थे[1]। हिन्दुओं को अपनी स्वतन्त्रता के चले जाने के कारण असन्तोष था, तथा वे उस समय की ताक में बैठे थे जब वे पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें। जहाँ के सब देशवासी शत्रु थे और जहाँ उनके मित्रों की संख्या बहुत ही कम थी, ऐसे देश में, सेनाप्रधान शासन के बिना, साम्राज्य को बनाये रखना असम्भव था। अतएव इस काल में प्रायः सब शासक ऐसे थे, जिन्होंने युद्ध-क्षेत्र में अपनी योग्यता प्रदर्शित की थी। ये सब प्रायः अपठित थे, और धर्मविषयक बातों का इन्हें विशेष ज्ञान नहीं था। इन विषयों पर जो कुछ टूटे फूटे विचार उनके मस्तिष्क में उपस्थित थे, उन्हीं को वे कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न करते थे। यही कारण है कि यद्यपि इस समय मुसलमान शासकों ने कई सहस्र हिन्दुओं को क़त्ल करवाया किन्तु

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४३७-८.

हिन्दुओं के साथ वैसी सख़्ती नहीं की जैसी फ़िरोज़ तथा सिकन्दर के शासनकाल में हुई थी।

इस काल में केवल दो ही सम्राट् विशेष-रूपेण विचारणीय हैं। इनके शासनकाल में विशेषतया नवीन विजय तथा दूर देशों पर आक्रमण ही हुए थे। साम्राज्य को बढ़ाना, सुसंगठित करना, विद्रोहियों का दमन करना, मंगोलों के बाह्य आक्रमणों से साम्राज्य को बचाना, ये सब प्रश्न इन प्रारम्भिक सम्राटों के सम्मुख उपस्थित हुए थे, और इन सबको हल करने में केवल सेना की ही आवश्यकता थी। इस समय सेना ही सर्वोपरि थी, और उनके सेनापति साम्राज्य के शासक थे, अतः इस काल को सैनिक काल (military monarchy) कहा है।

(२) उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन-काल (१२९४-१३५१ ई०) जब साम्राज्य सुदृढ़ हो जाता है तथा सेना की सहायता से सम्राट् जब अन्य विरोधियों को दबा देता है, तब उसकी प्रवृत्ति इस ओर होती है कि वह अपनी सभा को जकड़े हुए समस्त बन्धन तोड़ डाले; उन सबको काट कर उसे स्वच्छन्द रीति से शासन करने की सूझती है। ऐसा शासक स्वच्छन्द होकर अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकता है, किन्तु यदि वही शासक नवीन विचारों और आदर्शों से स्फुरित होकर देश में सुधार करने के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करे तो वह अपने देश को समृद्धि-सम्पन्न बना सकता है। भारत में भी यही हुआ। नवीन शक्ति को प्राप्त करके अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुग़लक ने देश की भलाई के लिए ही उसका उपयोग किया। इन सम्राटों को मालूम था कि अपने

विचारों को कार्यरूप में परिणत करने में उन्हें विरोध का सामना करना होगा, इसी लिए इन्होंने अपनी शक्ति बढ़ाई। इस काल का प्रधान उद्देश्य सुधारों को प्रचलित करना ही था, और इस उद्देश्य को सहायता देने के लिए सैनिक संगठन किया गया। अतएव यद्यपि इस काल में सारा दक्षिण जीत लिया गया, और सेना का पुनः संगठन किया गया, फिर भी हमने इसे उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन-काल कहा है। साम्राज्य के लाभ तथा हितार्थ के विचारों को सर्वोपरि स्थान दिया गया। "साम्राज्य के लाभ के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति तथा समुदाय-विशेष का हानिलाभ विचारणीय नहीं है; सम्राट् की सत्ता ही साम्राज्य में सर्वोपरि होना चाहिए और उसकी इच्छानुसार सारा शासन नियमित किया जावे।" रिचलू की इस नीति को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न अलाउद्दीन तथा मुहम्मद ने इस काल में किया था। धार्मिक विचारों का राजनीति पर जो प्रभाव पड़ता था, उसका इसी लिए अन्त कर दिया गया कि इस प्रभाव से कई बार साम्राज्य की हानि होचुकी थी। मुहम्मद तुग़लक ने तो हिन्दुओं को पूर्ण विचार-स्वातन्त्र्य तथा धार्मिक स्वाधीनता दे दी। प्रजा को सुखी करने के लिए अनेकानेक प्रयत्न किये गये। अशान्ति-कारियों का दमन किया गया। बाह्य आक्रमण-कारियों से भारत को सुरक्षित करने के लिए एक सेना संगठित की गई। साम्राज्य को सुसंगठित करके सुदृढ़ बनाया। अकाल के कुप्रभावों का मिटाने के लिए यत्न किये गये।

इस काल में दो महान् सम्राट् हुए, अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुग़लक; इन दोनों में मुहम्मद अधिक उन्नतिशील

था। भारत के मध्य-कालीन इतिहास में मुहम्मद की कोटि का, अन्य कोई विद्वान्, प्रजा-हितैषी, उन्नतिशील स्वच्छन्द शासक नहीं मिलता। मुहम्मद ने एक महान् विरोध का सामना किया, किन्तु उसकी नीति में जिस उन्नतिशीलता, गम्भीर विचार तथा जिस पाण्डित्य का प्रभाव दीख पड़ता है, उसका थोड़ा सा भी अंश अलाउद्दीन की नीति में नहीं है। फिर भी दोनों शासक एक ही नीति के पोषक थे। जिस नीति का आरम्भ अलाउद्दीन ने किया, उसी नीति का पूर्ण विकसित स्वरूप मुहम्मद के समय देख पड़ा, यही कारण है कि पूर्णतया भिन्न होते हुए भी इन दोनों सम्राटों के शासन-काल को एक ही विभाग में रखा गया है।

(३) धर्मप्रधान शासन-काल (१३५१-१३८८ ई०) जब कोई शासक जोज़ेफ़ द्वितीय के समान नये नये सुधार करता है, तो उसकी नीति से व्यक्तिगत या किसी दलविशेष के अधिकारों पर आघात होता है, और तब ये आहत व्यक्ति उस शासक की नीति तथा उसके शासन का विरोध करने लगते हैं। यह विरोध धीरे धीरे प्रतिक्रिया का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। धीरे धीरे यह प्रतिक्रिया इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि वह उस नवीन नीति का विध्वंस कर डालती है। यही हाल मुहम्मद तुग़लक की उन्नतिशील नीति का भी हुआ। मुहम्मद के शासन-काल में ही इस विरोध का प्रारम्भ हुआ, और जब मुहम्मद की मृत्यु के अनन्तर इस नीति का कोई भी समर्थक न रहा तब तो इस विरोध ने भीषण प्रतिक्रिया का स्वरूप ग्रहण किया। जिन धर्माधिकारियों के अधिकार मुहम्मद ने छीन लिये थे, वे ही अब साम्राज्य की नीति

के विनाता हो गये। मुहम्मद का उत्तराधिकारी फ़िरोज़ निर्वल था, उसके धार्मिक विचार बहुत ही संकीर्ण थे, इसी कारण वह इन धर्माधिकारियों के हाथ की कठपुतली बन गया। फ़िरोज़ के सिंहासनारूढ़ होते ही, धर्मान्धपूर्ण नीति का बोल-बाला हो गया। सेना पतित एवं अयोग्य हो गई, उसे विलास का घुन लग गया। साम्राज्य की वाह्य नीति भी शिथिल हो गई, बंगाल को जीत कर भी स्वाधीन हो जाने दिया। उलेमाओं और मुल्लाओं का दौरदौरा था, उन्हीं के विचारों से प्रभावान्वित होकर फ़िरोज़ ने मुस्लिम समाज की सहायता तथा पारमार्थिक सिद्धि के लिए एक नये कार्यक्रम को साम्राज्य की नीति का अंग बनाया। किन्तु इससे केवल मुसलमानों का ही लाभ था, हिन्दुओं को भी लाभ पहुँचाना इस कार्यक्रम का उद्देश्य नहीं था। किन्तु धर्मान्धता के इस विष ने साम्राज्य की जड़ ढीली कर दी, साम्राज्य का संगठन खोखला हो गया, जिससे ज्योंही फ़िरोज़ की मृत्यु हुई साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया और इस धर्मप्रधान शासन-काल का (Theocratic monarchy) अन्त होगया।

(४) अराजकता का काल तथा निर्वल शासन (१३८८-१४५० ई०) धर्मप्रधान शासन-काल ने साम्राज्य को निर्जीव कर दिया, तैमूर के आक्रमण आन्तरिक युद्धों तथा गृहकलह ने इस जर्जरित भवन को ढहा दिया। पंजाब का दक्षिणी भाग तथा देहली के पास के कुछ प्रान्त ही देहली के नाम-मात्र के सम्राट् के अधिकार में थे। फ़िरोज़ के निकम्मे उत्तराधिकारी तुग़लक शासकों को अपने हाथ की कठपुतली बनाने के लिए अमीर लोग झगड़ने लगे; प्रत्येक अमीर यही

चाहता था कि मैं ही सम्राट् को अपने हाथ में रखूँ। अन्त में तुग़लक-वंश का अन्त हुआ और दौलतख़ाँ के कुछ दिनों के शासन के अनन्तर सय्यद देहली के सिंहासन पर आबैठे। किन्तु उनके लिए तो रहा-सहा छोटा साम्राज्य भी अधिकार में रखना कठिन हो गया; मेवाती, खख्खर, तुर्कबच्चा, तथा मुसलमान सूबेदारों के विद्रोहों को दमन करने में ही उनका सारा समय बीत गया। जैसा कि संसार का नियम है अराजकता के बाद पुनः शक्तिशाली पुरुषों का आगम होता है, जब सय्यदों में यह साहस न रहा कि वे देहली के सम्राट् बने रहें तो लोदियों ने देहली के सिंहासन को अपनाया।

(५) जागीर-प्रथा पर संगठित साम्राज्य--(Feudal monarchy) (१४५० से १५२६ ई०) निर्बल शासन के काल में देहली के सुलतानों की कोई क़द्र नहीं रही। जौनपुर का छोटा राज्य शक्तिशाली हो गया। बहलोल तथा सिक़न्दर लोदी ने साम्राज्य की स्थापना करने के लिए बहुत प्रयत्न किये, जौनपुर जीत लिया और साम्राज्य को दूर दूर तक फैलाया। अब पुनः मुसलमानों में नवजीवन के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। किन्तु पतनोन्मुख समाज में पुनर्जागृति कहाँ तक सम्भव होती है? लोदियों ने साम्राज्य को विस्तारित किया, किन्तु वे साम्राज्य का संगठन नहीं कर सके। बहलोल अपने दरबारियों तथा अमीरों के साथ मित्रों का-सा बर्ताव करता था। वह कहा करता था कि—"संसार जानता है कि मैं बादशाह हूँ, फिर इस दिखावट से क्या प्रयोजन"। अपने जाति भाइयों के

साथ तो वह दिल खोल कर मिलता था, और उनके साथ ऐसा वर्ताव करता था मानों वे समान पदाधिकारी हों, या सबकी एक ही सी इज़्ज़त हो। किन्तु ऐसे समय जब कि अराजकता के तथा निर्बल शासन के फलस्वरूप सम्राटों की कोई क़द्र नहीं रही थी, ऐसी नीति का अनुसरण करना हानिकारक था। सम्राटों का आदर पहले ही कम था, और इस वर्ताव से तो अब अमीरों का गर्व इतना बढ़ा कि वे सम्राट् को केवल अपने से अधिक शक्तिशाली अमीर ही समझते थे। अमीरों में उद्धतता तथा उद्दण्डता आगई और यद्यपि यह प्रश्न बहलोल और सिकन्दर के समय बहुत बढ़ा नहीं था फिर भी सिकन्दर को इस बात की बड़ी आवश्यकता प्रतीत हुई कि अमीरों को दबावे। किन्तु ज्यों ज्यों दबाव डाला गया त्यों त्यों उनकी उद्धतता बढ़ती ही गई, और इब्राहाम के समय में इतनी बढ़ी की सुल्तान ही को नहीं किन्तु प्रथम भारतीय मुसलमानी बादशाहत को भी ले डूबी। इब्राहीम किसी भी प्रकार अयोग्य नहीं था किन्तु जब वह सिंहासनारूढ़ हुआ उस समय भारत की दशा बहुत ही ख़राब थी। पूर्वगामी सम्राटों के पाप तथा उनकी निर्बलता के दुष्परिणामों के लिए इब्राहीम को फल भुगतना पड़ा। साम्राज्य में असन्तोष तथा अमीरों की उद्दण्डता पूर्ण वेग के साथ बढ़ रही थी। उत्तर पश्चिमीय सीमा पर बैठा हुआ बाबर ऐसे ही समय की बाट जोह रहा था; उसने गृहकलह से लाभ उठाया। बाबर ने एक ही झपट में भारतीय साम्राज्य हथिया लिया और मुग़ल-साम्राज्य की स्थापना की।

अमीरों की उद्दण्डता का प्रश्न हल हुए बिना ही रह गया। लोदियों ने साम्राज्य की सीमा-वृद्धि की किन्तु उन्होंने साम्राज्य को सुसंगठित करने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। लोदियों का साम्राज्य जागीर-प्रथा के अनुसार संगठित था। समस्त साम्राज्य छोटी मोटी जागीरों में बँटा हुआ था, जो भिन्न भिंन्न अमीरों को बाँट दी गई थीं। इस शासन-संगठन के साथ इस प्रथा के दुष्परिणाम भी आ पहुँचे, और जब इब्राहीम ने इनके हटाने का प्रयत्न किया तो वह विफल हुआ। ट्यूडरों के समान ही मुग़लों को भी अपने शासनकाल में अमीरों का भी प्रश्न हल करना था, किन्तु देश की भिन्नता तथा मुग़लों के विदेशीय होने के कारण उन्हें अधिक कठिनाई नहीं हुई। उद्दण्ड अमीरों-द्वारा विनष्ट साम्राज्य के अवशेषों पर मुग़लों ने एक नवीन साम्राज्य की सृष्टि की। यद्यपि मुग़लों का साम्राज्य एक जागीरप्रथाप्रधान साम्राज्य के भग्नावशेषों पर निर्माण किया गया था किन्तु इस नवीन साम्राज्य में सम्राट् पूर्णतया स्वच्छन्द थे।



४

अल्तमिश

४.

अल्तमिश—भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना।

जिस समय दूरस्थ इँगलैण्ड में बादशाह जॉन और उसके अमीरों में झगड़ा चल रहा था; और अन्त में जब जान को (Magna Charta) मेगना कार्टा नामक अधिकार-पत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ा, उन्हीं दिनों भारत में एक ऐसी बादशाहत की नीवँ पड़ रही थी, जिससे शीघ्र ही पूर्ण स्वच्छन्द शासन का प्रादुर्भाव हुआ। इँगलैण्ड में उन दिनों अमीर इसलिए झगड़ रहे थे कि किसी प्रकार बादशाहों की स्वच्छन्दता का अन्त करें; इसके विरुद्ध भारत में बिलकुल विपरीत प्रवाह बह रहा था, भारत में मुसलमान अमीरों को ग़ुलाम बादशाहों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

पूर्वीय देशों में दास-प्रथा

विधि का विधान विचित्र है। भारत के मुस्लिम साम्राज्य के निर्माता ग़ुलाम ही थे। भारत के प्रारम्भिक मुसलमान सम्राट् किसी न किसी के ग़ुलाम रह चुके थे, हाथों हाथ बिके थे, और अपनी योग्यता के ही बल पर धीरे धीरे उच्च स्थानों को प्राप्त करते हुए वे मुस्लिम साम्राज्य के विधाता हुए। "पूर्वीय देशों में तो ग़ुलाम कई बातों में

पुत्रों से भी अधिक आदरणीय थे[1]।" इस ग़ुलामप्रथा के विरुद्ध पाश्चात्य देशों में कुछ भी क्यों न कहा जाय, किन्तु पूर्वी देशों में तो इसके ही फलस्वरूप कई एक योग्य पुरुषों की वृद्धि हुई। एक महान सम्राट् का पुत्र अपने पिता के समान योग्य तथा महान नहीं हो, किन्तु उनके ग़ुलामों के योग्य होने में कोई आशंका नहीं हो सकती। कई एक ग़ुलाम तो अपने स्वामी से भी बढ़ चढ़ कर होते थे। पुत्र में यद्यपि पिता के समान गुण न भी हों, किन्तु पिता के गुणों के कारण भी पुत्र का बहुत कुछ आदर हो जाता है, और अयोग्य होते हुए भी पिता के सम्मान के प्रभाव से कई बार ऊँचे ऊँचे पदों पर पहुँच जाता है। किन्तु ग़ुलामों का उत्थान इतना सरल नहीं है, अपने उत्थान के लिए उन्हें भीषण संग्राम करना पड़ता है और जहाँ तक उनमें शारीरिक शक्ति तथा मानसिक योग्यता न हो, उनका सफल होना बहुत ही कठिन होता है। अपनी योग्यता प्रदर्शित करके ही वह अपने स्वामी को प्रसन्न कर सकता था, और इसलिए उसका उच्च पद पर पहुँचना असम्भव सा होता था। विलासरहित, कठोर जीवन निर्वाह करने से ही वे अपने ऊँचे पद पर स्थित रह सकते थे। उन्हें अपने अस्तित्व के लिए संग्राम करना पड़ता था, और इस संग्राम में जो सफल हुआ उसकी योग्यता में किसी भी प्रकार की आशंका नहीं हो सकती थी। यही कारण है कि जो दास जीवन-संग्राम में सफल हुए, वे सर्वदा ऊँचे पद पर पहुँचे। साथ ही यह कह देना उचित

---

१. लेनपूलः—मेडीवल इण्डिया, पृष्ठ ६४।

है कि यह वह ज़माना था जब मुसलमानों का समाज समानता के विचारों से ओतप्रोत था, उस समय योग्य ग़ुलामों की सत्ता तथा उनकी अधीनता स्वीकार करने के लिए भी मुसलमान तैयार थे। मुसलमानों ने अपने दासों के प्रति अच्छा बर्ताव किया, और उसके फलस्वरूप थोड़े ही दिनों में मुसलमानों की सत्ता दूर दूर तक फैल गई। मुस्लिम सभ्यता के प्रचारकों में ग़ुलामों की संख्या बहुत अधिक है। भारत में भी मुस्लिम साम्राज्य के निर्माता ग़ुलाम ही हुए।

कुतुब, भारत का प्रथम मुसमलान सम्राट् था। अपने स्वामी के साथ वह भारत पर आक्रमण करने के लिए आया था, और जब उसका स्वामी ग़ोरी लौट गया तो उसे भारत में अपना प्रतिनिधि नियत कर गया। कोई पन्द्रह वर्ष तक क़ुतुब ग़ोरी का प्रतिनिधि बनकर शासन करता रहा। इन्हीं पन्द्रह वर्षों में क़ुतुब ने भारत के दूरस्थ देशों को जीता तथा उन्हें भारतीय मुस्लिम साम्राज्य में मिला लिया। किन्तु जब ग़ोरी मारा गया तब क़ुतुब ने प्रथम बार भारतीय मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना की। विधि के विधान को कौन मेट सकता है। क़ुतुब के भाग्य में यह नहीं लिखा था कि स्वतन्त्र मुसलमानी साम्राज्य का अधिक दिनों तक उपभोग करे। चार वर्ष तक शासन करने के बाद ही एक दिन चौगान खेलते समय क़ुतुब घोड़े पर से गिर पड़ा, सख़्त चोट लगी, और कुछ ही दिनों के अनन्तर मर गया। बाबर तथा

कुतुबुद्दीन का शासनकाल। (१२०६-१०)

कुतुब के शासनकाल में बहुत कुछ समानता देख पड़ती है। दोनों ही ने अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक विशाल साम्राज्य छोड़ा, किन्तु दोनों ही सम्राटों को साम्राज्य सुदृढ़ करने के लिए समय नहीं मिला था।

कुतुब की मृत्यु के अनन्तर, उसका लड़का गद्दी पर बैठा। वह निर्बल शासक था, अतः अराजकता का दौरदौरा हुआ, साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा, भिन्न भिन्न सेनापति अलग अलग प्रान्त दबा बैठे। साम्राज्य के हितैषियों ने उसे गद्दी से उतार कर बदाऊँ के सूबेदार अल्तमिश को गद्दी पर बिठाया।

अल्तमिश का प्रारम्भिक जीवन।

अल्तमिश के पिता का नाम आलमखाँ था। प्रारम्भ से ही अल्तमिश अपने सौन्दर्य, बुद्धि, आदि के लिए प्रसिद्ध था, और इसी कारण उसके दूसरे भाई उससे ईर्ष्या करते थे। अन्त में एक दिन जोज़ेफ़ के समान ही, उसके भाइयों ने अल्तमिश को एक घोड़े के व्यापारी के हाथ बेच दिया। व्यापारी ने उसे बुख़ारा के न्यायाधीश के हाथ बेचा। न्यायाधीश ने अल्तमिश का लालन-पालन अपने ही पुत्र के समान किया। वहाँ कुछ काल तक रहने के अनन्तर हाजी बुखारी ने उसे मोल लिया, और "जमालुद्दीन-चस्त-काव" के हाथ बेचा। जमालुद्दीन उसे ग़ज़नी ले आया। मुहम्मद ग़ोरी ने अल्तमिश को ख़रीदना चाहा किन्तु जमालुद्दीन ने नहीं बेचा, जिससे चिढ़कर ग़ोरी ने आज्ञा दी कि अल्तमिश ग़ज़नी में नहीं बेचा जावे। इसी आज्ञा के परिणामस्वरूप जब कुतुबुद्दीन ने अल्तमिश को मोल लेना चाहा तो देहली में ही

मोल लिया। कुतुब को अलूतमिश के लिए बहुत सा धन देना पड़ा। उसने अलूतमिश के साथ पुत्र का सा बर्ताव किया, और अलूतमिश भी अपनी योग्यता से धीरे धीरे ऊँचे पद पर चढ़ता ही गया। गक्खरों के विद्रोह के दबाने के लिए गोरी जब आया था, तब कुतुब भी उसके सहायतार्थ गया था। उस समय अलूतमिश कुतुब के साथ था। युद्ध में अलूतमिश की वीरता देख कर गोरी ने उसके बारे में पूछताछ की, और उसे बुलाकर उसका आदर किया, तथा कुतुब को आज्ञा दी कि अलूतमिश के साथ ठीक तरह से बर्ताव किया जावे। वहीं अलूतमिश के दासत्व की कड़ियाँ तोड़ने के लिए फ़रमान लिखवाया गया।

अलूतमिश को कौन कौन से तीन प्रश्न हल करने थे?

अलूतमिश ने देहली के सिंहासन को फूलों की सेज के समान सुखद नहीं पाया। उसने देखा कि उसके सम्मुख तीन प्रश्न थे, इनको हल करना ही उसका प्रधान उद्देश्य था। इन प्रश्नों को सफलतापूर्वक हल करने ही पर साम्राज्य का भविष्य निर्भर था। वे प्रश्न ये थे।

(१) भारतीय मुस्लिम साम्राज्य को तथा भारतीय मुस्लिम सम्राटों के पद को मुस्लिमशास्त्रसम्मत बनाना।

(२) साम्राज्य के संगठन को सुदृढ़ करना।

(३) साम्राज्य की वृद्धि करना।

ये तीनों प्रश्न कठिन समस्याएँ थीं, इन्हें हल करना साधारण बात नहीं थी। किन्तु जिस दृढ़ निश्चय के साथ, तथा जिस अदम्य साहस के साथ वह अब तक अपने जीवन के प्रश्नों का सामना करता आया था, उसी निश्चय से

धीरतापूर्वक वह अपने नवीन कर्तव्य का पालन करने के लिए तत्पर हुआ।

भारतीय मुस्लिम साम्राज्य को शास्त्र-संगत बनाने का प्रयत्न।

अलूतमिश ने देखा कि सर्वत्र उसके विरोधी उठ रहे थे। प्रत्येक पुरुष यही प्रश्न करता था कि "अलतमिश का सिंहासन पर क्या अधिकार है?" वह शक्तिशाली था, योग्यता उसमें वहुत थी, किन्तु केवल इन्हीं गुणों के सहारे वह सिंहासन पर नहीं वैठ सकता था। शास्त्रानुसार क्या देहली के सिंहासन पर उसका कोई हक़ था? क़ुतुव का भी सिंहासनारूढ़ होना, न्यायसंगत नहीं था, फिर भी उसके पक्ष में यह कहा जा सकता था कि उसे मुहम्मद ग़ोरी ने अपना प्रतिनिधि नियत किया था, अतः ग़ोरी की मृत्यु के अनन्तर उसका सम्राट् वन जाना आश्चर्यजनक नहीं था। किन्तु क़ुतुव के वंशजों को एक ओर हटाकर, एक ग़ुलाम का साम्राज्य पर अधिकार जमाना मुइज्जी और क़ुतुव के दलवाले अमीरों को अच्छा नहीं लगा। अमीर कहते थे कि अलूतमिश तो केवल एक दास का दास था, अतः सिंहासनारूढ़ होने का साहस करना उसका एक दुस्साहस-मात्र था। क़ुतुव के अन्य सहायक इलदौज और कुवैचा भी पूर्णतया स्वाधीन हो गये थे, और वे भी अपने को भारत का सम्राट् वनने के योग्य समझते थे। उनके रहते क्या अलतमिश सम्राट् वन सकता था? पुनः वहुत से मुसलमान सोचते थे कि अलूतमिश को ख़लीफ़ा ने भी तो अभी शासक नहीं माना है। भिन्न भिन्न पुरुषों ने अलूतमिश के सिंहासनारूढ़ होने के विरुद्ध भिन्न भिन्न कारण ढूँढ़ निकाले।

किन्तु अन्य मुस्लिम सम्राटों के समान अलूतमिश ने भी "जिसकी लाठी उसी की भैंस" वाले नियम को अंगीकार किया। अपने अधिकार को न्यायसंगत बनाने के लिए उसके पास केवल दो ही उपाय थे—तलवार का बल तथा ख़लीफ़ा-द्वारा भारत का शासक स्वीकार किया जाना। अल्तमिश को मालूम था कि यदि वह अपने आपको भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली बना सके तो उसकी प्रजा ही नहीं पड़ोसी बादशाह भी उसके अधिकार को आप ही आप स्वीकार कर लेंगे। दूसरे यदि मुसलमानों का सर्वमान्य ख़लीफ़ा उसे भारत का शासक स्वीकार कर ले तो उसका विरोध करने का किसी को भी साहस नहीं होगा। अधिक नहीं तो मुसलमानों के विरोध का तो अन्त हो जावेगा। हिन्दुओं को मित्र बनाने तथा उनकी सहायता प्राप्त करने का तो वह स्वप्न भी नहीं देख सकता था। वे अब भी अपनी विगत स्वाधीनता को नहीं भूले थे, अब भी अपने विजेताओं को देख देख कर वे ओंठ चबाते थे।

ऊपर हम पहले ही कह चुके हैं कि अपने पद को शक्तिशाली बनाने को तथा उसे मुसलमानों की दृष्टि में शास्त्र-सम्मत बनाने के लिए केवल दो ही उपाय थे। अल्तमिश ने देखा कि केवल एक ही का अनुसरण करना तथा दूसरे को छोड़ देना उचित नहीं होगा, अतएव उसने दोनों उपायों को ग्रहण किया। एक ओर वह अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए प्रयत्न करने लगा, दूसरी ओर सन् १२२८ ई० में ख़लीफ़ा ने उसको भारत का सम्राट् मान

लिया। हमें इस बात का कोई पूरा प्रमाण नहीं मिलता कि अल्तमिश ने ख़लीफ़ा से यह स्वीकृति प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न किया था या नहीं। कुछ भी हो ख़लीफ़ा ने अल्तमिश के लिए शाही पोशाक भेजा, उसे भारतीय साम्राज्य का सम्राट् स्वीकृत करने की सनद भेजी, और सम्राट् को उसके उपयुक्त उपाधि भी प्रदान की। एक दिन नियुक्त किया गया जब अल्तमिश ने दरबार किया तथा वहाँ उसने पोशाक तथा सनद अंगीकार की और वहीं एक फ़रमान भी पढ़ा गया, जिसमें ख़लीफ़ा की ओर से यह घोषणा की गई थी कि "जो जो देश तथा समुद्र सम्राट् अल्तमिश ने जीते हैं तथा अपने अधिकार में किये हैं उनका वह सम्राट् नियुक्त किया जाता है[1]।" सम्राट् ने ख़लीफ़ा के दूतों को तथा अपने अमीरों को शिरोपाव दिये और इस अवसर पर देहली में बहुत आनन्द मनाया गया।

राजनैतिक दृष्टि से यह घटना बहुत ही महत्त्व की है। ख़लीफ़ा की स्वीकृति को पाकर अल्तमिश की सत्ता बढ़ गई। सिंहासन पर उसका अधिकार स्वीकृत हो जाने से अब विरोधियों को यह कहने का अवसर न रहा कि अल्तमिश का राज्य-सिंहासन पर कोई भी अधिकार नहीं था। अपने फ़रमान के द्वारा ख़लीफ़ा ने एक प्रकार से भारत के प्रत्येक मुसलमान को आज्ञा दी कि वे अल्तमिश तथा उसके उत्तराधिकारी को अपना स्वामी समझें तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करें। अब अल्तमिश का विरोध करना ख़लीफ़ा

---

१. ईलियट और डासन—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड २ पृष्ठ २४३।

की आज्ञा का विरोध करने के समान था। ख़लीफ़ा ने देहली-साम्राज्य तथा उसके सम्राटों के पद को स्वीकार करके उनको न्यायसंगत माना और अब मुसलमानों को अल्तमिश का अधिकार तथा सम्राट्-पद स्वीकार करना पड़ा।

सम्राट् के पद को शक्तिशाली बनाने के प्रयत्न।

अल्तमिश ने अपने अधिकार को सुदृढ़ करने तथा अपने पद की सत्ता बढ़ाने के लिए तलवार का भी सहारा लिया। तलवार की सहायता से अल्तमिश ने "एक पंथ, दो काज" वाली कहावत को चरितार्थ किया; उसने अपने पद को ही सुदृढ़ नहीं किया, किन्तु साम्राज्य को भी शक्तिशाली बनाया। साम्राज्य बहुत दूर दूर तक फैला हुआ था किन्तु अपने आकार के अनुरूप शक्ति उसमें न थी। साम्राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए सम्राट् का स्वच्छन्द होना अत्यावश्यक था। आधुनिक प्रजातन्त्र के पक्षवाले, स्वच्छन्द शासन की भले ही निन्दा करें, किन्तु इस बात को वे असत्य कभी भी नहीं बता सकते कि प्रजातन्त्र शासन-पद्धति एक ऐसी पद्धति है जो मानव-समाज की एक विशेष अवस्था में ही उपयुक्त होती है। मध्यकाल में स्वच्छन्द शासन ही शासन का एक-मात्र उपाय था, और इसी पद्धति के अनुसार संगठित साम्राज्य शक्तिशाली होते थे। बहुत से शासक निर्बल भी होते थे, और उनकी निर्बलता का लोग बुरा लाभ उठाते थे किन्तु इसके लिए भी यह उपाय था कि वह शासक सिंहासनच्युत कर दिया जावे। भारत में तो विशेषतया, "यूरोपीय होली रोमन साम्राज्य" के सम्राट् के पद के समान ही, भारतीय मुसलमान सम्राट् का पद जन-

नियुक्त था। कोई विशेष चुनाव नहीं होता था, फिर भी प्राय: वही व्यक्ति सम्राट् बनाया जाता था जिससे कि सेना तथा अमीर यह आशा करते थे कि वह शान्ति-पूर्वक सुरीति से शासन कर सके तथा जो व्यक्ति साम्राज्य को वाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक विद्रोहों के झोकों से बचावे तथा इनके फल-स्वरूप साम्राज्य को कोई विशेष हानि न होने दे। इसी कारण उन दिनों भारत में स्वच्छन्द शासन का प्रवाह वहने लगा।

अल्तमिश ने तत्कालीन राजनैतिक स्थिति देख कर यह निश्चित किया कि उसे स्वच्छन्द बनना चाहिए। सारे साम्राज्य में केवल एक ही शक्ति होनी चाहिए क्योंकि जहाँ तक सत्ता एक पुरुष के हाथ में न हांवे तथा जब तक सारे साम्राज्य-नीति को निर्धारित करने का अधिकार एक ही व्यक्ति को न हो तब तक एक सुदृढ़ साम्राज्य का निर्माण करना कठिन था। अत: सिंहासनारूढ़ होकर अल्तमिश ने तत्कालीन राजनैतिक अवस्था पर पूर्णतया विचार किया। मिनहुज-स्-सिराज के शब्दों में—"जब आरामशाह मरा तब हिन्दुस्तान चार विभागों में विभक्त था। देहली और उसके आस पास के देश सुलतान शैद शमसुद्दीन (अल्तमिश) के हाथ में थे। लखनौती का प्रान्त खिलजी सुलतानों के अधिकार में था। लाहौर का प्रान्त कभी मलिक ताजु-द्-दीन (इलदौज़) के हाथ में चला जाता तो कभी मलिक नासिरुद्दीन कुबैचा के हाथ में तो कभी सुलतान शमसुद्दीन के हाथ में[१]।" इस

१. ईलियट और डासन—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड २, पृष्ठ २०१।

कारण अल्तमिश के विचारानुसार यह आवश्यक था कि

(१) अपने प्रतिद्वन्द्वियों को दबावे, और मुसलमानों-द्वारा जीते हुए देशों का एकच्छत्र सम्राट् बने।

(२) अपनी आज्ञा का जो लोग विरोध करें, उनको आज्ञाकारी बनावे।

अल्तमिश ने अपना विरोध करनेवाले अमीरों को दबा दिया और देहली, बदाऊँ, अवध, बनारस तथा सेवालिक पहाड़ियों के प्रान्तों पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया[1]। किन्तु उसको सबसे बड़ा डर अपने प्रतिद्वन्द्वियों का—इलदौज़ और कुबैचा का—था।

इलदौज़ और कुबैचा दोनों ही सुलतान मुहम्मद गोरी के ग़ुलाम थे। जिस समय मुहम्मद गोरी की मृत्यु हुई उस समय इलदौज़ पंजाब का स्वामी था, और कुबैचा सिन्ध का। जब क़ुतुब ने भारतीय साम्राज्य की नींव डाली, उस समय ये दोनों व्यक्ति अपने अपने प्रान्तों के स्वतन्त्र शासक बन बैठे। इलदौज़ स्वाधीन हो गया अमीरों की राय से और गज़नी के सिंहासन पर बैठा, किन्तु शीघ्र ही लाहौर के लिए कुतुब के साथ उसका युद्ध हुआ, जिसमें इलदौज़ की हार हुई। क़ुतुब ग़ज़नी तक जा पहुँचा किन्तु ग़ज़नी में पहुँचते ही उसने ऐश्वर्य और विलासिता में अपना जीवन बिताना आरम्भ किया, जिससे अफ़ग़ान अमीरों ने क़ुतुब को रवाना किया और क़ुतुब के लौटते ही पुनः इलदौज़ ग़ज़नी की गद्दी पर

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड २ रा, पृष्ठ ३२३-४।

आ बैठा। परन्तु जब ख्वारीजाम के शाह ने अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण किया तब तो इलदौज़ ने कुवैचा को हराकर लाहौर का प्रान्त ले लिया। इलदौज़ जैसे शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी को लाहौर के समान पास के प्रान्त में रहने देना अल्तमिश को क्योंकर ठीक मालूम होता। सन् १२१५ ई० में सरहद के लिए दोनों में युद्ध हुआ, इलदौज़ हारा, पकड़ कर देहली लाया गया। बाद में वह बदाऊँ भेज दिया गया और वहीं मार डाला गया।

इलदौज़ के अधीन प्रान्तों को साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया गया। अब कुवैचा पर चढ़ाई करने की बारी आई। सन् १२१७ ई० में उसके साथ युद्ध हुआ, कुवैचा हारा और उसने अल्तमिश की अधीनता स्वीकार कर ली। किन्तु कुवैचा को पूर्णतया नष्ट किये बिना अल्तमिश को कहाँ चैन पड़ सकती थी? लेकिन कोई दस वर्ष बाद ही सन् १२२७ ई० में वह अपनी मनोकामना पूर्ण कर सका। उस साल ख्वारीजाम के शाह की सेना मंगोलों के हाथों हार कर भागती हुई सिंध में पहुँची। जब कुवैचा ने शाह की इस सेना को हराकर सिन्ध से भगा दिया, तब तो अल्तमिश ने उसे शरण दी, और उनकी सहायता करने के मिस से उसने कुवैचा पर आक्रमण किया। अल्तमिश के आगमन का हाल सुनकर कुवैचा अपना सारा कोष लेकर बख़र के क़िले में चला गया। अल्तमिश ने इधर उच्छ के क़िले का घेरा डाला और कोई तीन मास में उसे ले लिया, तब तो कुवैचा बहुत ही हतोत्साह हो गया और सन्धि करने के लिए अपने लड़के को अल्तमिश के पास भेजा। किन्तु अल्तमिश ने कुवैचा के लड़के को

क़ैद कर लिया। अब तो कुबैचा को सर्वत्र निराशा ही निराशा देख पड़ने लगी। कुछ दिनों के बाद वह डूब जाने से मर गया। वह कैसे डूबा—नाव के उलट जाने से डूबा या आत्महत्या करने के लिए नदी में कूद पड़ा—इस विषय पर कोई भी निश्चित मत नहीं दिया जा सकता क्योंकि तबक़ात-इ-नासिरी में दोनों ही बातों का उल्लेख किया गया है। कुछ भी हो कुबैचा की मृत्यु से अलतमिश की एक बड़ी विपत्ति का अन्त हो गया।

अपने दो बड़े बड़े प्रतिद्वन्द्वियों को नष्ट करके अलतमिश ख़िलजियों की शक्ति नष्ट करने चला। केवल लखनौती का ही प्रान्त ख़िलजियों के अधिकार में था। क़ुतुब की मृत्यु के अनन्तर ख़िलजियों ने स्वाधीनता की घोषणा कर दी। अलीमर्दन ने "अलाउद्दीन" नाम धारण करके अपने को एक स्वतन्त्र सुलतान घोषित किया। ख़ुतबा भी उसी के नाम से पढ़ा जाने लगा। अपने नाम के सिक्के भी जारी किये। ग़यासुद्दीन ने भी अलीमर्दन का अनुकरण किया। जाज़नगर, तिरहुत, गौड़ आदि देश उसने जीत लिये। सन् १२२५ ई० में अलतमिश ने इनके विरुद्ध सेना भेजी, और उन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली, किन्तु ज्योंही शाही सेना लौट गई, ख़िलजियों ने बिहार में नियुक्त शाही सूबेदार को निकाल बाहर किया। अवध का सूबेदार नासिरुद्दीन महमूदशाह सेना लेकर चढ़ आया; ग़यासुद्दीन के साथ उसका युद्ध हुआ, जिसमें ग़यासुद्दीन मारा गया। ख़िलजी अमीर क़ैद कर लिये गये, सारा देश जीतकर देहली के साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया गया। किन्तु कुछ ही वर्षों के अनन्तर ज्योंही नासिरुद्दीन

मरा, पुनः विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इस बार अल्तमिश स्वयम् चढ़ आया, सारे प्रांत में शांति स्थापित की, और मलिक अलाउद्दीन जानी को सूबेदार नियुक्त किया। इस प्रकार अल्तमिश ने भारत में मुसलमानों-द्वारा जीते गये प्रान्त में अपना एकच्छत्र अधिकार जमाया।

चंगेज़खाँ के आक्रमण का भय।

जब अल्तमिश अपनी सत्ता स्थापित करने में लगा हुआ था, भारत पर आनेवाली एक महान् विपत्ति के बादल उत्तर-पश्चिमीय दिशा में उमड़ रहे थे। दूर से आती हुई घटा में चपला की चमचमाहट दिखाई देने लगी थी, और बादलों का घोर गर्जन भी सुनाई पड़ने लगा था। यह आपत्ति थी, "चंगेज़खाँ का आक्रमण।" मङ्गोल चंगेज़ के सेनापतित्व में समस्त मध्य एशिया को रौंद रहे थे। मङ्गोल बहुत ही निर्दयी थे, और चङ्गेज़ क्रूरता में भी सबसे बाज़ी मारता था। बुखारा में उसने भयंकर मारकाट मचाई, और उसके आक्रमण-फलस्वरूप ख्वारीज़ाम साम्राज्य नष्ट हो गया। ख्वारीज़ाम का अन्तिम शाह, जलालुद्दीन, मङ्गोलों के भीषण प्रवाह से डर कर भागा। उसने सिन्ध नदी के तीर पर उनसे युद्ध करने की तैयारियाँ कीं, अल्तमिश के पास देहली में रहने के लिए स्थान भी माँगा। परन्तु अल्तमिश जानता था कि जलालुद्दीन को शरण देना, चंगेज़ को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित करने के समान है। अतः अल्तमिश ने उत्तर दिया कि देहली की आबोहवा उसे मुआफ़िक नहीं आवेगी और जलालुद्दीन के दूत को मरवा

डाला। सिन्धु के तट पर भीषण युद्ध हुआ, एक बार तो जलालुद्दीन ने मङ्गोलों की सेना के मध्यभाग में गड़बड़ी पैदा कर ही दी किन्तु अन्त में उसको मुँह की खानी पड़ी। तब तो जलालुद्दीन अपनी स्त्रियों तथा बच्चों को छोड़ कर भागा। क्यों कर जलालुद्दीन पुनः ईराक पहुँचा, इस विषय पर निश्चित रीति से कुछ नहीं कहा जा सकता है। यह बात अवश्य सत्य है कि जलालुद्दीन बिना अधिक गड़बड़ मचाये भारत से रवाना हो गया। केवल एक ही बात उल्लेखनीय है कि कुबैचा के हाथों जलालुद्दीन की हार का बहाना करके अल्तमिश ने कुबैचा को नष्ट कर दिया।

चंगेज़ख़ाँ का भी इरादा बदल गया, उसकी आँखें पश्चिम की ओर लगी हुई थीं, इधर मङ्गोलों को भारत की गरम आबोहवा सहन नहीं हुई, अतः मङ्गोलों का प्रवाह लौट गया, भारत पर आते हुए एक विध्वंसकारी तूफ़ान की गति बदल गई। आपत्ति की काली घटा चढ़ने लगी थी, किन्तु ऊपर तक नहीं पहुँची। गड़गड़ाहट बहुत हुई, किन्तु एक कोने में चढ़ कर लौट गई। जिस शीघ्रता के साथ यह घटा चढ़ी थी, उसी जल्दी के साथ उतर भी गई। अगर चढ़ आती तो क्या होता, भारत को क्या हानि सहनी पड़ती, उसका कौन अन्दाज़ा लगा सकता है?

चंगेज़ लौट गया, किन्तु कई मङ्गोल अफ़ग़ानिस्तान आदि प्रदेशों में बस गये। एक बार उन्हें भारत की राह का पता लग गया। अब वे आगामी भविष्य में भारत पर निरन्तर आक्रमण करने लगे। मङ्गोलों के आक्रमणों का भारतीय सम्राटों की नीति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। आगामी सम्राटों के

लिए उत्तर-पश्चिमीय सीमान्त-प्रदेशों की रक्षा करना एक महत्त्व का प्रश्न हो गया।

अल्तमिश ने उत्तरी भारत पर अपनी सत्ता जमा ली; प्रायः सारे उत्तरी प्रदेश जीत लिये गये, अब न तो कोई प्रतिद्वन्द्वी रहा और न कोई महत्त्व का विरोधी, बाह्य आक्रमणों का डर भी न रहा। ख़लीफ़ा की ओर से ख़िलअ़त पाने के कारण उसका शासन अधिक सुदृढ़ हो गया। अब अल्तमिश ने अपना साम्राज्य बढ़ाने की सोची।

अन्तिम प्रश्न। साम्राज्य की वृद्धि करना।

सन् १२२६ ई० में रणथम्भोर का क़िला जीत लिया गया और दूसरे ही साल सिवालिक पहाड़ियों में स्थित मण्डोर का क़िला भी हस्तगत कर लिया गया। किन्तु सन १२३० ई० के अनन्तर उसने दक्षिण की ओर अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये। सन १२३१ ई० में ग्वालियर पर धावा किया और क़िले का घेरा डाला। मंगलदेव ने क़िले की रक्षा करना आरम्भ की; और कोई ग्यारह मास तक वह सफलतापूर्वक सामना कर सका, किन्तु अन्त में एक दिन रात्रि के समय भाग निकला। मंगलदेव के कई सैनिकों को मृत्यु-दण्ड दिया गया और इस क़िले का पूर्ण प्रबन्ध किया गया। सन् १२३१ ई० में मालवे पर चढ़ाई की। मिसन का क़िला जीत लिया, वहाँ का कोई ३०० वर्ष का पुराना एक मन्दिर नष्ट कर दिया गया। वहाँ से सम्राट् उज्जैन की ओर बढ़ा और उसे भी शीघ्र ही हस्तगत कर लिया। "वहाँ महाकाली का एक मन्दिर तथा सम्राट्

विक्रमादित्य की एक मूर्ति थी। महाकाली की पत्थर की मूर्ति तथा अन्य ताँबे की मूर्तियों को सम्राट् देहली ले गया[1]।"

अन्तिम बार सम्राट् ने सन् १२३५ ई० में बनियाँ पर धावा मारा, किन्तु शीघ्र ही वह बीमार हो गया और इसी कारण उसे लौट आना पड़ा। "कोई २५ वर्ष तक लगातार युद्ध करते करते अब अल्तमिश की शक्ति इतनी क्षीण हो गई थी कि वह बन्द पालकी में लेटा हुआ देहली को लौटा। ज्योतिषियों तथा हकीमों ने बहुत प्रयत्न किये किन्तु ज्यों ज्यों दवा की गई, मर्ज़ बढ़ता ही गया और अन्त में सन् १२३५ ई० में अपने महल ही में वह इस लोक को छोड़ दूसरे लोक को सिधारा।"

इस प्रकार कठिन परिश्रम करके अल्तमिश ने साम्राज्य की नींव डाली। अल्तमिश ही भारतीय मुस्लिम साम्राज्य का सच्चा संस्थापक था। इसी कारण हम प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद के इस कथन से पूर्णतया सहमत हैं कि—"ग़ुलाम सम्राटों में अल्तमिश ही सबसे महान् था[2]।"

यदि यहीं अपना विवरण समाप्त कर दें तो हम लेन-पूल के इस कथन को कि "मध्यकालीन भारतवर्ष का इतिहास

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड २, पृष्ठ ३२८।

२. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १४६।

हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता का संवर्षण तथा सम्मिश्रण। नवीन सभ्यता का प्रादुर्भाव।

तत्कालीन बादशाहों, उनकी राजसभाओं, तथा उनके युद्धों ही का चिट्ठा है, उसमें जातीय जीवन के विकास तथा ह्रास आदि बातों का विवरण नहीं है, पूर्णतया चरितार्थ करेंगे। जब लेनपूल साहब उपरोक्त वाक्य लिख रहे थे, तब वे इस बात को भूल गये थे कि भारत भी अन्य राष्ट्रों के समान एक राष्ट्र है तथा उसकी सभ्यता में भी परिवर्तन होता है। यदि भारतवर्ष के इतिहास का ठीक ठीक रीति से अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट देख पड़ता है कि मध्यकाल में भी भारतीय सामाजिक जीवन तथा सभ्यता में निरन्तर परिवर्तन हुए हैं। अल्तमिश के शासनकाल में ये परिवर्तन अदृष्ट रूप से प्रारम्भ हुए थे।

हम ऊपर इस बात का विवरण दे चुके हैं कि अल्तमिश ने क्योंकर भारत में मुस्लिम साम्राज्य को स्थापित किया। किन्तु इन घटनाओं का भारत के राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन पर उतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, जितना कि इस समय प्रारम्भ होनेवाले कई अदृष्ट परिवर्तनों का पड़ा। अल्तमिश को भारतीय इतिहास में एक अपूर्व स्थान प्राप्त है। उसका शासनकाल भारतीय समाज के इतिहास का एक विशेष महत्त्व का अध्याय है। अल्तमिश के शासनकाल की विशेषता उसकी विजयों तथा उसकी साम्राज्य-स्थापना के कारण नहीं है, क्योंकि समय के साथ वह साम्राज्य नष्ट हो गया और आज अल्तमिश के उन दिनों की याद दिलाने के लिए कुछ भग्न खण्डहरों के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं है, किन्तु अल्तमिश का शासनकाल अपनी एक दूसरी ही प्रकार की विजय के लिए

प्रसिद्ध है। इस विजय-विशेष के चिह्नों को मिटाना असम्भव के समान है। यह विजय सभ्यता की विजय थी।

जब अरबों की विजय के समय प्रथम बार मुस्लिम-विचार-शैली तथा सभ्यता का हिन्दू-विचार-शैली और सभ्यता के साथ संघर्षण हुआ, उस समय भारत का पतन नहीं हुआ था। विजयी होकर भी अरबों ने सभ्यता, विद्या आदि के लिए भारत के सम्मुख मस्तक झुकाया। अरब की सभ्यता ने नत-मस्तक होकर भारत की सभ्यता से पाठ पढ़ा। प्रथम संघर्षण के समय पाश्चात्य देशों ने भारत को अपना गुरु माना और अपने प्रारम्भिक दिनों में दार्शनिक तथा धार्मिक आदर्शों के विकास में इस्लाम-धर्म ने भारतीय आदर्शों को ग्रहण किया। परन्तु अरबो-सभ्यता का भारतीय सभ्यता पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा।

महमूद ग़ज़नी के समय में भी भारतीय सभ्यता पर मुस्लिम सभ्यता का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। महमूद ने कई आक्रमण किये किन्तु प्रत्येक बार आँधी की नाईं दल-बादल लिये वह भारत पर चढ़ आता और उसी प्रकार लूट-खसोट कर लौट जाता था। महमूद के समय में पंजाब के थोड़े से भाग के अतिरिक्त कहीं भी मुसलमानों ने अपना साम्राज्य नहीं जमाया। पुनः उस समय भारत में मुसलमान भी नहीं आ बसे थे; अतः ऐसे समय दोनों सभ्यताओं का कुछ भी पारस्परिक प्रभाव पड़ना असम्भव था।

किन्तु जब मुहम्मद ग़ोरी ने आक्रमण किये और क़ुतुब के सेनापतित्व में जब समस्त उत्तरी भारत पर अपना अधिकार जमा लिया गया, तब मुसलमान सर्वत्र फैल गये।

वे एक नूतन सभ्यता तथा धर्म के प्रचारक थे; उनके राजनैतिक तथा धार्मिक विचार और उनके आदर्श भारत के लिए एक अनोखी वस्तु थी। उन पर प्राथमिक काल में भारतीय विचारों का प्रभाव पड़ा था, किन्तु इन विचारों का ऐसा सम्मिश्रण हो गया, नये ढाँचे में ऐसे ढल गये, कि अब उन्हें भारतीय कहना उचित नहीं। सभ्यता के इतिहास का जो ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हैं, उन्हें यह स्पष्टतया देख पड़ता है कि प्रारम्भिक दिनों में मुस्लिम सभ्यता पर भारतीय सभ्यता का क्या प्रभाव पड़ा था। किन्तु जब मुस्लिम सभ्यता के साथ द्वितीय वार संघर्षण हुआ उस समय जो जो भारतीय विचार इस्लाम-धर्म में समाविष्ट हो चुके थे वे भारतीय होकर भी पराये हो गये। इधर भारतीय सभ्यता का भी पतन होने लगा। मुसलमानों के आगमन से इस पतनोन्मुख सभ्यता को भीषण ठेस लगी। अतः जब भारतीय समाज में मुसलमान घुस पड़े तथा उनके साथ निरन्तर सहवास होने लगा तो भारतीय समाज पर मुस्लिम सभ्यता का अदृश्यरूपेण प्रभाव पड़ने लगा और भारतीय आदर्शों तथा विचार-धारा में धीरे धीरे परिवर्तन होने लगे।

मुसलमानों के पहले जितने भी आक्रमणकारी भारत में आ बसे थे, उनका धर्म न तो इस्लाम का सा सरल और स्पष्ट था और न उनका राजनैतिक संगठन ही इतना सुदृढ़ था अतः आते ही वे विशाल भारतीय समाज में समा गये और अब उनके विशेष इतिहास का पता भी नहीं लगता। परन्तु हिन्दू-समाज मुसलमानों को अपने अंचल में लीन नहीं कर सका। इस विशेषता के कई कारण थे। मुसलमानों का संगठन सुदृढ़

था। उनका धर्म सरल तथा स्पष्ट था और उनमें नवीन धर्म का जोश तथा धार्मिक कट्टरता कूट कूट कर भरी हुई थी। अन्तिम किन्तु सबसे महत्त्व का कारण यह था कि हिन्दू-धर्म तथा समाज संकीर्ण हो गये थे, वे पतन की ओर बड़े वेग से दौड़ रहे थे, उनकी शक्ति क्षीण हो रही थी, अतः अन्य आक्रमणकारियों के समान मुसलमानों को भी अपनी विशाल देह में समाविष्ट करने की शक्ति हिन्दू-समाज तथा हिन्दू-धर्म में नहीं रह गई थी। इसी कारण भारत में प्रथम बार दो भिन्न भिन्न सभ्यताएँ तथा पूर्णरूपेण विपरीत दो विभिन्न धर्म साथ ही साथ रहने लगे। इन दोनों सभ्यताओं में जो भेद था वह स्पष्टतया दिखाई दे रहा था, ये दोनों एक दूसरे से पूर्णतया विपरीत थीं। अतः यह असम्भव था कि सम्पर्क होने पर भी दोनों एक दूसरे के प्रभाव से प्रभावान्वित न हों। यह प्रभाव क़ुतुब के शासनकाल में प्रारम्भ हुआ था किन्तु अल्तमिश के समय यह बहुत कुछ बढ़ गया था और इसकी गति भी बढ़ रही थी। अल्तमिश ने मुस्लिम साम्राज्य को सुदृढ़ किया, अतः अब इन दोनों सभ्यताओं का संघर्षण होने लगा, ये पारस्परिक प्रभाव अल्तमिश के शासनकाल में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगे।

सभ्यताओं का सम्मिश्रण किन किन धाराओं में प्रारम्भ हुआ ?

इसी कारण अल्तमिश के शासन-काल को भारत की ही नहीं, किन्तु संसार की सभ्यताओं के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। दोनों धर्मों का सम्पर्क तथा सभ्यताओं के सम्मिश्रण का प्रभाव तीन-चार भिन्न भिन्न धाराओं में दृष्टिगोचर होता है।

प्रथम तो यह प्रभाव कला में स्पष्टतया देख पड़ता है। मुसलमान स्वयं कला में इतने दक्ष न थे, किन्तु मुसलमान सम्राटों में इतनी बुद्धि अवश्य थी कि उन्होंने भारतीय सभ्यता को उसके आदर्शों तथा शैली को समूल नष्ट नहीं किया। उन्होंने इन्हें अपने धार्मिक विचारों तथा आदर्शों के ढाँचे में ढाला और अपने जीवन को सुखमय तथा अपने विचारों को पूर्णतया प्रदर्शित करने के प्रयत्नों में अनजाने ही एक नवीन भारतीय शैली को जन्म दिया। यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने हिन्दू कारीगरों को इस्लाम-धर्म के नियम तथा विधियों का पालन करने के लिए वाध्य किया और इस प्रकार अज्ञातरूपेण भारतीय कला को नवीन स्वरूप देकर नूतन मार्ग पर अग्रसर किया तथा उसकी उन्नति में सहायता दी।[१] यह प्रवाह प्रथम बार स्पष्ट रीति से अल्तमिश के शासन-काल में प्रवाहित हुआ। उसके समय में बने हुए मीनार, मसजिदें आदि इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भारतीय शिल्पकारों ने अपने नवीन विजेताओं के आदर्शों का परिपालन करना आरम्भ कर दिया था। कला भारतीय ही थी, केवल उसमें नवीन आत्मा का संचार हुआ। भारतीय शिल्पकार ही नवीन शैली के कर्ता थे; उन्होंने प्राचीन शैली को इस रीति से परिवर्तित कर दिया कि नवीन विचारों का उनमें समावेश हो सके, तथा नवीन आदर्शों का पालन किया जा सके। अल्तमिश का शासनकाल

(अ) कला।

---

१. हेवलः—हिस्ट्री आफ़ आयर्न रूल इन इण्डिया, पृष्ठ २६५।

ही कला के इतिहास में इस भारतीय मुस्लिम-शैली का जन्म-काल है।

दूसरा प्रभाव साहित्य पर पड़ा। यद्यपि हिन्दी भाषा का आरम्भ कोई ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से गिना जाता है, किन्तु मुसलमानों के भारत में बस जाने पर इस भाषा ने एक विशेष स्वरूप ग्रहण करना प्रारम्भ किया। मिश्रबन्धुओं के कथनानुसार इस समय "क्रम से हिन्दी भाषा विकसित होते होते नये रूप में आने लगी थी और चन्द की भाषा से वह पृथक् देख पड़ती है। अतः इन कवियों के साथ (मोहनलाल द्विज संवत् १२४७, आदि) प्राचीन हिन्दी का द्वितीय समय आरम्भ होता है।" यह स्पष्ट है कि मुसलमानों के सम्पर्क से भाषा पर भी प्रभाव पड़ रहा था और अल्तमिश के दिनों में ही उस प्रवाह का आरम्भ हुआ था जो अमीर ख़ुसरो की लेखनी से व्यक्त हुआ। इन्हीं दिनों हिन्दी भाषा पर फ़ारसी भाषा का वह प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप एक नवीन शैली का उद्गम हुआ, जिसका प्रथम उपयोग अमीर खुसरो ने किया तथा जो "खड़ी बोली" कहाई। यह भी कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि अल्तमिश के समय में ही उर्दू भाषा का जन्म होने लगा था। भारतीयों की हिन्दी तथा मुसलमानों की फ़ारसी भाषा के सम्मिश्रण के परिणाम-स्वरूप एक सम्मिश्रित नूतन भाषा का उद्गम हुआ जो "उर्दू"

(ब) साहित्य

१ मिश्रबन्धुः—मिश्रबन्धुविनोद, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६५।

या "पड़ाव की भाषा" कहलाने लगी। जब से भारत में मुसलमान बस गये तथा उनका भारतीय प्रजा से सम्पर्क होने लगा तब से ही इस भाषा के उद्भव का प्रारम्भ हुआ। अमीर ख़ुसरों ने जब साहित्य में उर्दू-भाषा का प्रयोग किया तब यह स्पष्ट हो गया कि इस भाषा का विकास हो रहा था और इसके साहित्य की धारा बहने लगी थी। यद्यपि बलवन के शासनकाल में अमीर ख़ुसरो ने उर्दू-भाषा को अपनाया, किन्तु यह स्पष्ट है कि इस भाषा का जन्मकाल अल्तमिश का शासनकाल ही समझा जाना चाहिए।

(स) धार्मिक परिवर्तन।

तीसरा प्रभाव दोनों धर्मों में होनेवाले परिवर्तनों से स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। इस बात का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि भारतीय इस्लाम-धर्म का उसकी जन्म-भूमि से कोई सम्पर्क नहीं रहा, अतः यहाँ इस्लाम-धर्म अपने एक नये ही स्वरूप में विकसित होने लगा। हेवेल के शब्दों में "भारतीय इस्लाम-धर्म, प्रारम्भिक इस्लाम-धर्म से इतना विभिन्न हो गया कि बग़दाद या कैरो-निवासी इस्लाम-धर्म के धुरन्धर विद्वानों को तुलना करने पर भारतीय इस्लाम-धर्म में तथा अन्य विधर्मों में अधिक भेद नहीं प्रतीत होता"[1]। अल्तमिश के समय में ही प्रथम बार भारतीय मुसलमानों का अन्यदेशीय मुसलमानों से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ। यद्यपि विद्वानों, यात्रियों तथा सैनिकों का आना जाना होता रहा, किन्तु फिर भी जब से भारत में स्वतन्त्र मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हुई

---

१. हेवेल:—हिस्ट्री आफ़ दी आर्यन रूल इन इण्डिया, पृष्ठ ३३०–१।

तब से भारतीय मुसलमानों का अन्य देशीय मुसलमानों के साथ कोई भी राजनैतिक सम्बन्ध नहीं रह गया। पुनः चंगेज़ के आक्रमण ने भारतीय साम्राज्य के पड़ोसी मुस्लिम राज्यों को नष्ट करके भारतीय मुसलमानों को मुस्लिम सभ्यता तथा धर्म के विकास के स्थानों से सब प्रकार से विच्छिन्न कर दिया। इधर भारत में हिन्दू-धर्म संकीर्ण हो गया; आत्म-रक्षा तथा अपने अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए हिन्दुओं ने अपने जातीय बन्धन तथा धार्मिक विचारों को कड़ा कर दिया। उत्तरी भारत के हिन्दू राज्यों के नष्ट होने पर विद्वान् ब्राह्मण संरक्षणार्थ सुदूर दक्षिण देशों को भाग गये और दक्षिणी भारत में आर्यों की सभ्यता को फैलाया, तथा उसे विकसित होने में सहायता दी[1]। इन विद्वानों के दक्षिण जाने का एक दूसरा प्रभाव यह भी पड़ा कि कुछ काल के अनन्तर सुदूर दक्षिण में भक्तिमार्ग का प्रारम्भ हुआ। ऊपरी दृष्टि से यद्यपि मुसलमानों द्वारा उत्तरी भारत-विजय में तथा दक्षिण में भक्तिमार्ग के प्रारम्भ में कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता है किन्तु यदि सूक्ष्मरूप से विचार किया जावे तो इन दो घटनाओं में बहुत सम्बन्ध है। प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद भी लिखते हैं कि—"राज्यशासन-सम्बन्धी सांसारिक बातों से कोई सम्बन्ध न रहने के कारण अब हिन्दुओं की बुद्धि धार्मिक बातों में प्रस्फुटित होने लगी और सुधारकों के नये नये दल निकले[2]........।"

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५२७।

२. " " " " " " "

यह बात सत्य है कि ये सब प्रभाव समय के साथ धीरे धीरे प्रस्फुटित होने लगे, किन्तु इस बात से कोई भी व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता कि उत्तरी भारत में मुस्लिम साम्राज्य की सुदृढ़ नींव जमने के साथ ही धीरे धीरे ये परिवर्तन होने लगे थे।

(ङ) शासन-प्रणाली

चौथा प्रभाव शासन-प्रणाली पर पड़ा। भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करते ही मुसलमानों को प्रतीत हुआ कि देश-कालानुसार उन्हें भी अपने राजनैतिक आदर्शों तथा शासनपद्धति में अनेक परिवर्तन करने पड़ेंगे। भारत की भौगोलिक, राजनैतिक तथा सामाजिक दशा के उपयुक्त अपने आदर्शों को बनाना उन्हें अत्यावश्यक प्रतीत हुआ। भारतीय साम्राज्य के शासनार्थ उन्होंने भारतीय पद्धति को ही ग्रहण किया। यद्यपि यह पद्धति उनके लिए विदेशीय विचारों तथा आदर्शों पर स्थित थी, फिर भी मुसलमानों को यह उचित प्रतीत हुआ कि उसमें अधिक परिवर्तन न करें[1]।" इस विचित्र सम्मिश्रण के फलस्वरूप प्रारम्भ में इस पद्धति में कई दोष तथा बुराइयाँ उत्पन्न होगईं किन्तु समय के साथ ही वह धीरे धीरे परिष्कृत होगई तथा विकसित होकर मुग़ल-काल में अपने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हुई। इस सम्मिश्रित पद्धति का उद्गम अल्तमिश के ही काल में हुआ था। ज्यों ज्यों वह मुसलमानों की यत्र तत्र बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित करके साम्राज्य को निर्माण करने लगा, त्यों त्यों उसे यह

---

१. हैवेल:—हिस्ट्री आफ़ दी आर्यनरूल इन इण्डिया, पृष्ठ २६८।

अत्यावश्यक प्रतीत हुआ कि शासन को सुसंगठित करने के लिए एक पद्धति निश्चित करनी पड़ेगी। बहुत कुछ सोच-विचार करके उसने एक सरल तथा उपयुक्त पद्धति ढूँढ़ निकाली, जो भारतीय पद्धति का ही एक परिवर्तित रूप थी। अल्तमिश के शासन-काल में इस सम्मिश्रित-पद्धति का उद्भव हुआ। साम्राज्य-सम्बन्धी उनके विचारों में, आदर्शों में तथा उनके प्रयोगों में कहाँ तक परिवर्तन हुए इस बात का उल्लेख हम तीसरे अध्याय में ही कर चुके हैं।

अन्तिम ज्ञेय प्रभाव भारत के आर्थिक संगठन पर पड़ा। अल्तमिश ने भारत में अरबी सिक्कों का प्रचार करके देश के आर्थिक संगठन में क्रान्ति कर दी। भारत में अब नये नये सिक्के चले इनका मान तथा परिमाण बिलकुल ही विभिन्न था। अल्तमिश के इस परिवर्तन से मध्यकालीन मुसलमानी बादशाहों के सिक्कों का इतिहास प्रारम्भ होता है। उसने प्रथम बार १७५ ग्रेन के तौल का चाँदी का टंका चलाया जो बाद में भारत का प्रामाणिक सिक्का (Standard coin) हो गया।

(च) नवीन मुद्राएँ तथा आर्थिक परिवर्तन

इस प्रकार भारत में धीरे धीरे परिवर्तन हो रहे थे, राजनैतिक क्षेत्र के साथ भारत के सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में भी क्रान्ति के चिह्न दिखाई पड़ रहे थे। अल्तमिश के शासन-काल में केवल भारतीय मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना ही नहीं हुई किन्तु एक नूतन भारतीय मुस्लिम सभ्यता का भी

उद्गम होने लगा। एक नवीन सम्मिश्रित सभ्यता का धीरे धीरे प्रादुर्भाव हुआ। नूतन राजनीति प्रारम्भ हुई और मुस्लिम आदर्शों पर भारत की स्पष्ट और अमिट छाप लग गई। भारतीय सभ्यता के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ।

५

बलबन

५

बलबन-परिवर्तन-काल।

राष्ट्रीय जीवन का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। किन्तु काल के साथ उस प्रवाह की गति में, उसके स्वरूप आदि में, निरन्तर परिवर्तन होता जाता है। भिन्न भिन्न समय की विभिन्नताओं में भी एकता पाई जाती है, और इसी एकता से प्रत्येक राष्ट्र का इतिहास गुँथा रहता है। राष्ट्र के इतिहास में समय समय पर पाई जानेवाली विभिन्नता के आधार पर इतिहासकार उस राष्ट्र के इतिहास को भिन्न भिन्न कालों में विभक्त करते हैं। प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि "राष्ट्र के इतिहास में एक साथ ही महान् परिवर्तन बहुत कम होते हैं, और एक काल धीरे धीरे अदृष्ट रीति से दूसरे काल में परिणत हो जाता है। प्राय: ऐसा होता है कि परिवर्तन-काल में उन महत्त्व-पूर्ण परिवर्तनों के कर्ता, राष्ट्रीय इतिहास के वे नाट्यकार, स्वयं अपने कार्य का महत्त्व नहीं जानते। एक क्रान्ति सी हो जाती है, हमारी राजनैतिक तथा सामाजिक दशा में परिवर्तन हो जाता है × × × हमारे विचार और आदर्श, नये काल के अनुसार नये ढाँचे में ढलने लगते हैं फिर भी हम यह नहीं जान पाते हैं कि जिस महीतल पर हम खड़े हैं, उसमें कौन सा परिवर्तन हो रहा है और शायद हम ही उस परिवर्तन के कर्ता हैं। हम अनजाने ही महान् क्रान्तियों के कारण तथा कर्ता बन जाते हैं, और फिर

भी कदाचित् ही हमें उस महान् प्रभाव का पता लगता है, जो समकालीन इतिहास पर पड़ता है, तथा काल का जो महान् प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है उसका भी हमें पता नहीं लगता[१]।"

परिवर्तन-काल।

पुनः जब इस प्रकार क्रमशः होनेवाली शान्त क्रान्तियाँ होती हैं, उस समय हम निश्चितरूपेण यह नहीं कह सकते कि किस समय प्राचीन काल का अन्त हुआ तथा कहाँ से नवीन काल प्रारम्भ होता है। ये परिवर्तन इतने धीरे तथा अदृश्यरीति से होते हैं कि हम उनके प्रारम्भ होने की तिथि निश्चित नहीं कर सकते। किन्हीं अज्ञात कारणों से परिवर्तन का आरम्भ हो जाता है, और धीरे धीरे चलता हो जाता है; प्राचीन चिह्न तथा प्राचीन पद्धतियाँ मिटने लगती हैं और दिनोंदिन नवीन पद्धतियाँ स्पष्टतर होने लगती हैं, अतः जिस काल में समाज में परिवर्तन होता है, जब समाज विकास को अग्रसर होता है, उस काल की गणना किस काल में—प्राचीन या नवीन में—की जानी चाहिए, यह हम नहीं बता सकते। परिवर्तन-काल में प्राचीन तथा नवीन विचारों का विचित्र सम्मिश्रण होता है। इसी कारण ऐसे काल में शासन करनेवाले शासकों के शासनकाल की किसी काल-विशेष में गणना नहीं की जा सकती। उनकी नीति में नवीन विचारों तथा नवीनकाल का प्रभाव होने लगता है। किन्तु फिर भी उनकी पद्धति, कार्य-शैली, वही प्राचीन ही

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया द्वितीय संस्करण, इंट्रोडक्शन, पृष्ठ (i)

होती है। ऐसे सम्राट् नूतन प्रकार से विचार करते हैं, किन्तु उनके कार्य करने की पद्धति प्रायः वही पुरातन ही रहती है। बलबन का शासनकाल, सर्वथाभावेन ऐसे ही परिवर्तन-काल का एक अच्छा उदाहरण है। प्रारम्भिक मुस्लिम साम्राज्य की शासननीति फ़ारस आदि देशों की नीति से बहुत ही थोड़ी विभिन्न थी, किन्तु अल्तमिश के शासनकाल से ही भारतीय परिस्थिति का प्रभाव दिखाई पड़ने लगा था। भारत के देश, काल तथा प्राचीन सभ्यता के प्रभाव से मुस्लिम शासक तथा उनकी नीति प्रभावान्वित हुए बिना नहीं रह सके और इस प्रभाव के फलस्वरूप जो परिवर्तन हो रहे थे वे बलबन के शासनकाल में धीरे धीरे स्पष्टतर होते गये। बलबन की नीति में भी धीरे धीरे परिवर्तन होने लगा। उसकी कार्य-पद्धति तथा नीति में हम प्राचीन तथा नूतन दोनों प्रभावों का सम्मिश्रण पाते हैं। बलबन के शासनकाल में परिवर्तन हुआ और धीरे धीरे सेना-प्रधान शासन उन्नति-शील स्वच्छन्द शासन में परिणत हो गया।

किस किस बात में परिवर्तन हुआ ?

बलबन का शासन-काल मुस्लिम साम्राज्य तथा भारत में मुस्लिम राजनीति के विकास को विशेष रूप से प्रदर्शित करता है। प्रथम तो शासकों के विचारों तथा साम्राज्य की नीति में परिवर्तन हुआ। भारत इस्लाम की जन्मभूमि से बहुत दूर होने के कारण अरब, फ़ारस आदि देशों की अपेक्षा धार्मिक, सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थिति बहुत ही विभिन्न थी। क़ुरान-द्वारा निर्धारित

(अ) साम्राज्य की नीति में।

शासन-पद्धति तथा राजनैतिक नियम उन्हीं देशों में उपयुक्त थे और उनका भारत में अक्षरश: पालन करना कठिन था। अत: मुसलमानों को भारत में आते ही अपनी शासन-पद्धति में अत्यावश्यक परिवर्तन करने पड़े। मुसलमानों को भारतीय शासन-पद्धति को भी बहुत कुछ अपनी राजनीति में स्थान देना पड़ा। जब प्रथम बार भिन्न भिन्न आदर्शों पर स्थित दो भिन्न भिन्न पद्धतियों का सम्मिश्रण किया गया तो प्रथम परिणाम यह हुआ कि दोनों में बहुत संघर्षण हुआ और कई दोष तथा बुराइयाँ उठ खड़ी हुईं। किन्तु समय के साथ दोनों पद्धतियों में इतने अत्यावश्यक परिवर्तन हो गये कि अब संघर्षण का अन्त हो गया तथा दोनों के मेल से एक नवीन सम्मिश्रित पद्धति ढली। उदाहरणार्थ, सम्राट् के पद को ही लीजिए। नियमानुसार तो वह केवल मुसलमानों का चुना हुआ नेता था, किन्तु भारतीय विचार पूर्णतया इससे भिन्न थे। अत: भारत में बस जाने के बाद, जब कुछ समय बीत गया, धीरे धीरे मुसलमानों का भी अपने सम्राट् के प्रति भाव बदल गया। सम्राट् के प्रति अब उनके हृदय में आदर ही नहीं था किन्तु श्रद्धा भी उत्पन्न हो गई।

सम्मिश्रित शासन-पद्धति का बहुत कुछ विवरण पहले ही दिया जा चुका है, अब हम साम्राज्य की शासन-नीति पर कुछ विचार करेंगे। बलबन के समय में भी शासन-पद्धति सेना-प्रधान ही थी, किन्तु जिस उद्देश्य से सेना का प्रयोग किया जाता था, वह उद्देश्य पूर्णतया नवीन था। देश में सम्राट् के पद की उत्कर्षता स्थापित करना अलाउद्दीन का एक प्रधान उद्देश्य था और हिन्दुओं के तथा

सूबेदारों के विद्रोहों को दबाना, उन्हें स्वतन्त्र राज्य स्थापित न करने देना, अल्तमिश के समय के प्रश्न थे, किन्तु बलबन के शासनकाल में हम दोनों ही उद्देश्यों का समान प्राधान्य देखते हैं। अल्तमिश की नीति, अलाउद्दीन की नीति से पूर्णतया भिन्न थी, और बलबन की नीति इस परिवर्तन की एक अवस्थाविशेष प्रदर्शित करती थी। अल्तमिश की नीति का अन्त तथा अलाउद्दीन की नीति का उद्गम ही बलबन की नीति का सारांश है।

(ब) शासकों में।

बलबन के समय का दूसरा परिवर्तन साम्राज्य के शासकों में पाया जाता है। बलबन अन्तिम ग़ुलाम प्रधानमन्त्री था, तथा एक तरह से अन्तिम ग़ुलाम सम्राट् था। अल्तमिश और बलबन, की तरह कैक़ुबाद कभी भी ग़ुलाम नहीं रहा था। बलबन के बाद कोई भी ग़ुलाम सम्राट् तथा मन्त्री नहीं हुआ। ये ग़ुलाम सम्राट् प्रायः सब सेनापति होते थे और इन्हें शासन का विशेष अनुभव होता था। अपनी सैनिक योग्यता ही के बल पर वे सम्राट् तथा मन्त्री आदि बनते थे। साम्राज्य के प्रारम्भिक दिनों में ऐसे ही शासकों की आवश्यकता थी, किन्तु काल के साथ, ज्यों ज्यों मुस्लिम साम्राज्य दृढ़ होता गया, विजय तथा निरन्तर युद्ध ही शासकों के एक-मात्र कर्तव्य न रहे। साम्राज्य सारे उत्तरी भारत में फैल चुका था, सब ओर शान्ति छा गई थी, अब शासन करने की योग्यतावाले सम्राटों की आवश्यकता थी। इसी कारण बलबन की मृत्यु के साथ ही नवीन प्रकार के शासकों का उद्भव हुआ, जो शासन-कुशल थे। भारतीय मुसलमानों की

राजनीति में परिवर्तन हो रहा था, इधर पुराने ढर्रे के शासकों से यह आशा न थी कि वे इस नवीन नीति को कार्यरूप में परिणत कर सकेंगे, अतः नवीन प्रकार के शासकों की पूर्ण आवश्यकता हुई। नवीन नीति का उद्‌गम तथा नवीन प्रकार के शासकों का उद्भव ही बलबन के शासनकाल की विशेषता है। ये नवीन प्रकार के शासक कुशल सेनापति ही नहीं थे, किन्तु शासन-कला में भी पूर्णतया दक्ष थे। ग़ुलाम-योद्धा-सम्राटों का अन्त होना साम्राज्य के विकास के लिए अत्यावश्यक था। विधि का यह विधान अवश्य विचित्र था कि ग़ुलाम-वंश के एक महान सम्राट्—बलबन—के हाथों ही ग़ुलाम-वंश का अन्त हो। शम्सी ग़ुलामों का अन्त करके उसने नवीन प्रकार के शासकों के आने के लिए राह साफ़ कर दी और अपनी मृत्यु से उनके लिए सिंहासन पर चढ़ बैठने के लिए भी द्वार खोल दिये। बलबन के शासनकाल में पुराने काल के शासकों का अन्त हुआ; वे धीरे धीरे नवीन प्रकार के शासकों को स्थान दे रहे थे और जब समय परिपक्व हुआ तो साम्राज्य की बागडोर भी नवीन प्रकार के शासकों के हाथ में चली गई। शासकों का यह परिवर्तन भारतीय राजनैतिक इतिहास की एक अद्‌भुत महत्त्वपूर्ण घटना है।

(स) मुस्लिम समाज तथा मुस्लिम आदर्शों में परिवर्तन।

मुस्लिम समाज तथा मुस्लिम आदर्शों में परिवर्तन होना बलबन के शासनकाल की तीसरी विशेषता है। हिन्दुओं के आदर्शों तथा समाज का धीरे धीरे प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ने लगा था। अल्तमिश के शासन-काल में प्रारम्भ होकर बलबन के समय में यह

प्रवाह पूर्णवेग के साथ बढ़ रहा था। धीरे धीरे मुसलमानों की विचारशैली में परिवर्तन होने लगा, और अब वे भारत को ही अपनी मातृभूमि समझने लगे। अलाउद्दीन के समय में यह प्रवाह बहुत स्पष्ट हो गया और उसके सुधारों से इस प्रवृत्ति में बहुत सहायता मिली, किन्तु इस नवीन प्रवृत्ति का आरम्भ बलबन के काल में स्पष्ट देख पड़ने लगा। मुसलमानों के इस परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रभाव यह हुआ कि अब वे एक ऐसी नीति का समर्थन करने को तैयार थे, जिसका उद्देश्य भारत-साम्राज्य की भलाई करना था।

"बलबन-काल"—इसके दो विभाग।

कोई चालीस वर्ष तक बलबन के हाथ में देहली के साम्राज्य की डोर रही। प्रारम्भिक २० वर्षों तक वह नाममात्र के सम्राट् नासिरुद्दीन का प्रधान मन्त्री था, फिर भी यदि ४० वर्षों के इस काल को (१२४६-१२८६) हम "बलबन-काल" कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। हम इस "बलबन-काल" को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, 'बलबन का मन्त्रित्वकाल' तथा "बलबन का शासनकाल"। सन् १२४६ से सन् १२६६ ई० तक बलबन मन्त्री रहा। बीस वर्ष के इस काल में केवल एक बार सन् १२५३ ई० में बलबन को नासिरुद्दीन ने इस पद पर से हटा दिया था, किन्तु ज्यों ही बलबन ने मन्त्रित्व छोड़ा, त्यों ही शासन ढीला पड़ गया और दूर दूर तक असन्तोष फैल गया, बलबन को पुनः मन्त्री बनाने के लिए प्रार्थना की जाने लगी। प्रजा को ज्ञात था कि बलबन के समान योग्य मन्त्री दूसरा

नहीं है, अतः उसने सहायता दी, और अन्त में गृहयुद्ध होने का अवसर आ पहुँचा, किन्तु अमीरों ने बीचबिचाव कर दिया। शक्तिहीन, साधु, सम्राट् नासिरुद्दीन ने पुनः बलबन को मन्त्री बना लिया। अपने मन्त्रित्व के समय बलबन ने ऐसी योग्यता के साथ शासन किया कि नासिरुद्दीन की मृत्यु के अनन्तर जब वह स्वयं सम्राट् बन बैठा तो किसी ने भी उसका विरोध नहीं किया। सन १२६६ से १२८६ ई० तक वह सम्राट् के पद को सुशोभित करता रहा।

दोनों विभागों की विशेषताएँ।

इस ४० वर्ष के बलबन-काल को हम पहले ही दो भागों में विभक्त कर चुके हैं। ये दोनों काल एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न थे। यद्यपि एक ही व्यक्ति दोनों विभागों में शासन को संचालित करता था, और यद्यपि ऊपरी दृष्टि से दोनों विभागों की नीति में अधिक विभिन्नता नहीं पाई जाती है, तथापि सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर मालूम होता है, कि जहाँ प्रथम विभाग में समाप्त होनेवाले काल की नीति की झलक देख पड़ती है, वहाँ दूसरे विभाग में आगामी नूतन नीति के उद्गम के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं। दोनों कालों की नीति की विभिन्नता पर विचार करने से यह स्पष्टतः जान पड़ता है कि बलबन के समय में एक काल का अन्त हो रहा था, तथा दूसरे का प्रारम्भ। जब तक बलबन मन्त्री रहा वह भूतकाल के चिह्नों को मिटाने में ही लगा रहा। जिन जिन बुराइयों का उद्गम साम्राज्य के प्रारम्भिक दिनों में हुआ था, उनको उखाड़ फेंकने के प्रयत्नों में

बलबन के प्रारम्भिक बीस वर्ष बीते। उसने विद्रोहियों को दबाया और आक्रमणकारी मंगोलों को हरा कर भगा दिया। दूसरे काल में बलबन वही प्रयत्न करता रहा जिससे उन बुराइयों की रही सही जड़ें भी उखड़ जायँ और वे पुनः जड़ न पकड़ लें। इस प्रकार बलबन ने नवीन काल के आगम की तैयारियाँ कीं। बलबन ने ऐसे नियम बनाये, जिनसे ये दोष पुनः शासनपद्धति में घुसने न पावें। बलबन ने विद्रोहियों को नष्ट कर डाला। भविष्य में विद्रोह न हो, ऐसी व्यवस्था की। मंगोलों के आक्रमणों को रोकने के लिए एक नूतन नीति ग्रहण की। बलबन ने प्राचीन बुराइयों को समूल नष्ट करके अपने साम्राज्य की नीवँ को सुदृढ़ किया, जिससे आगामी शासनकाल में इसी नीवँ पर स्वच्छन्द शासन का विशाल भवन निर्माण किया जा सके।

यदि बलबन २० वर्ष तक मन्त्रित्व करके ही मर जाता तो जो उच्च स्थान उसे आज इतिहास में प्राप्त है, वह नहीं मिलता। साम्राज्य को भावी विद्रोहों तथा आक्रमणों से सुरक्षित करने के लिए, जो जो प्रयत्न बलबन ने किये, तथा जिस नीति को उसने ग्रहण किया, वे सब उसके मस्तिष्क की महत्ता तथा उसकी निर्माण-शक्ति का पूर्ण परिचय देते हैं। इसी निर्माण-शक्ति का लोदियों में पूर्ण अभाव था। वे विद्रोहियों को दबा सकते थे, किन्तु कैसे उन्हें नष्ट करना चाहिए यह लोदियों को नहीं सूझा और इसी कारण वे विफल हुए।

बलबन का शासनकाल, इँग्लैण्ड के हेनरी सप्तम के शासनकाल के समान ही, भूत-काल को बुराइयों के उपचार,

तथा भविष्य की महत्ता के बीज बोने का काल था। बलबन ने नवीन नीति को कार्यरूप में परिणत करने में प्राचीन उपायों से ही काम लिया, किन्तु इस ऊपरी प्राचीन स्वरूप में नूतन नीति की आत्मा छिपी हुई थी और इसी नूतनता के कारण हम बलबन को नवीन नीति का जन्मदाता कहते हैं।

सन् १२४६ ई० में साम्राज्य की दशा।

जब नासिरुद्दीन सिंहासनारूढ़ हुआ उस समय साम्राज्य प्रारम्भिक दशा में था। साम्राज्य का बाल्यकाल एक प्रकार से अभी समाप्त भी नहीं होने पाया था। अल्तमिश के उत्तराधिकारियों के शक्तिहीन शासन से सम्राट् की शक्ति बहुत कुछ घट गई थी। सारे साम्राज्य में अराजकता फैल रही थी, केन्द्रीय सत्ता का मान घट गया था। साम्राज्य की इस निर्बलता से लाभ उठाने के लिए हिन्दुओं ने विद्रोह किये और मंगोलों ने आक्रमण किये। बलबन को सन् १२४६ ई० के पहले एक बार मंगोलों के आक्रमण को रोकने के लिए भेजा गया था और उसने सफलतापूर्वक उन्हें हराकर भगा दिया था। अमीरों में असन्तोष फैल रहा था, स्वतन्त्र होने के लिए वे व्याकुल हो रहे थे। सम्राट् के पद के प्रति अब किसी के भी हृदय में अधिक आदर नहीं रहा। अल्तमिश को उस समय भी कई व्यक्ति राज्यापहारी समझते थे और उसके शक्तिहीन उत्तराधिकारी तो अमीरों के हाथ की कठपुतली ही थे। नासिरुद्दीन साधु था, उसे शान शौकत की परवाह न थी। बलबन यह चाहता था कि नासिरुद्दीन प्रजा के प्रति अपने उच्च पद की महत्ता तथा गौरव प्रदर्शित करे किन्तु नासिरुद्दीन इससे कोसों दूर भागता था।

पहले हम प्रधान मन्त्री बलबन ही के कार्य पर विचार करेंगे। ये बीस वर्ष केवल तीन प्रश्नों को ही हल करने में बीते। आन्तरिक विद्रोहों को दबाना, उसका प्रथम उद्देश्य था। खक्खरों तथा अन्य पर्वत-निवासी जातियों को दबाने के लिए बलबन ने ज़ूद तथा ज़िलम पहाड़ियों पर चढ़ाई की। मुसलमान सूबेदारों के विद्रोहों को दबाने और हिन्दुओं को आज्ञाकारी बनाने के लिए भिन्न भिन्न भागों में सेना भेजी गई। कुतलुग़ख़ाँ तथा इज़्ज़ुदीन ने हिन्दू राजाओं और असन्तुष्ट अमीरों की सहायता से विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। उनका उद्देश्य बलबन को मन्त्री-पद से च्युत करने का था, किन्तु उनका मनोरथ सफल नहीं हुआ और बाद में कुतलुग़ का पता भी नहीं लगा। दोआब के निरन्तर विद्रोह करनेवाले हिन्दू राजाओं को भी दबाया। प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि "असन्तुष्ट अमीर तथा मलिकों के पारस्परिक द्वेष तथा ईर्ष्या से साम्राज्य में अराजकता फैलती थी, अतः इन्हें बलबन ने समूल नष्ट कर दिया"[1]। इधर मंगोलों के आक्रमण होने लगे, अतः उन्हें रोकने के लिए बलबन ने सेना भेजी। सेना के आगम की सूचना पाकर ही मंगोल लौट गये। तीसरा प्रश्न सम्राट् के पद का मान बढ़ाना था। हम पहले ही लिख चुके हैं कि नासिरुद्दीन अपना जीवन बहुत

बलबन का मन्त्रित्व-काल। (१२४६-१२६६ ई०)

१ ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १९६।

ही सादगी से व्यतीत करता था, अतः बलबन की यह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। फिर भी एक बार तो उसने नासिरुद्दीन को नहीं छोड़ा। चङ्गेज़ख़ाँ के पौत्र हलाकू का पौत्र भारत में आया था। उसका स्वागत करने के लिए बलवन ने बड़ी बड़ी तैयारियाँ करवाईं, राजसभा-भवन को सुन्दर रीति से भूषित करवाया। सम्राट् नासिरुद्दीन ने उस दिन राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर बड़ी ही शान से अपने अतिथि-विशेष का स्वागत किया।

द्वितीय काल का प्रारम्भ। कुछ अवश्यम्भावी परिवर्तन।

परन्तु ज्यों ही नासिरुद्दीन की मृत्यु हुई, बलबन स्वयं सम्राट् बन बैठा। पुराना शासन चलता रहा, पहले के समान ही अब भी सारा राज्य-कार्य बलवन के ही हाथ में था, किन्तु बलवन के सिंहासनारूढ़ होते ही कुछ परिवर्तन हुए। साधु सम्राट् की सहृदयता का अब बलवन की कठोर नीति पर कुछ भी प्रभाव न रहा। पहले नाम-मात्र को ही क्यों न हो सम्राट् नासिरुद्दीन का सिंहासन पर स्थित रहना, बलवन की शक्ति पर एक बन्धन के समान था; अब बलवन पर वह बन्धन भी न रहा। बलवन ने सिंहासनारूढ़ होते ही, अपनी चिरवाञ्छित इच्छा पूर्ण की! नासिरुद्दीन के समान वह सादगी से नहीं रहता था। राज्य-सभा के वैभव की अब दूसरी ही दशा थी, बलवन स्वयं जब राजसिंहासन पर बैठता था तो दर्शक-गण देख देख कर आश्चर्यान्वित हो जाते थे। तीसरे, राज्यनीति में जो परिवर्तन हुए, उनका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। प्रथम

काल में जो शान्ति स्थापित की जा चुकी थी, उसी को चिरस्थायी बनाने के लिए दूसरे काल में बलबन ने भरसक प्रयत्न किये। दूसरे काल में किये गये क्रियात्मक प्रयत्नों ही के कारण बलबन प्रसिद्ध है तथा इसी लिए उसकी गिनती भारत के महान् शासकों में की जाती है।

सम्राट् बनकर बलबन ने अपनी प्रारम्भिक नीति के परिणाम को स्थायी बनाने के लिए प्रयत्न किये। उसने देखा कि सब विद्रोह दबा दिये गये हैं, और सर्वत्र उसके नाम का दबदबा फैला हुआ है, किन्तु उसे मालूम था कि कुछ ही काल के अनन्तर यह प्रभाव अदृश्य हो जावेगा और पूर्वस्थिति पुनः लौट आवेगी। इसलिए आवश्यकता इस बात की थी कि शासन सुदृढ़ नीवँ पर स्थित किया जावे।

दूसरे विभाग की महान् विशेषताएँ।

प्रायः सब मध्यकालीन साम्राज्य सेना-प्रधान रहे हैं। उनमें सेना ही राज्यसत्ता का एक-मात्र आधार थी। अतः बलबन ने देखा कि जहाँ तक सैनिक प्रबन्ध सुदृढ़ नहीं किया जावेगा, तहाँ तक शासन का सुदृढ़ होना कठिन है। इसी कारण सेना सुसज्जित की गई, नई सेनाओं का संगठन हुआ, और उनका संचालन अनुभवी सेनापतियों के हाथ में दिया गया। बलबन को अनुभव से मालूम हुआ कि शम्सी गुलामों का जत्था अब पहले सा न तो उपयोगी था, और न वे अब वैसे ही योग्य थे। जब किसी सैनिक कार्य पर उन्हें भेजा जाता तो वे सारा कार्य ढीलेपन से करते, कई अनेक प्रकार के बहाने कर लेते और अपने अधिकारियों को भेंट तथा रिश्वत

शम्सी गुलामों का पतन।

देकर छुट्टा मंजूर करवा लेते। इन्हें भूतकाल में बड़ी बड़ी जागीरें इसी लिए दी गई थीं कि वे शासकों के तथा मुस्लिम साम्राज्य के स्तम्भ बनें, किन्तु वे अब साम्राज्य के लिए भार-स्वरूप हो गये थे। काल का परिवर्तन हो रहा था और अब उनकी आवश्यकता न रही थी। ये ही भारतीय मुस्लिम साम्राज्य के निर्माता थे, किन्तु अब निर्माण के अनन्तर दूसरे प्रकार के नेताओं की आवश्यकता थी। बलबन ने आज्ञा दी कि शम्सी ग़ुलामों की दशा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर संपूर्ण विवरण सम्राट् के सम्मुख रखा जावे। जब सम्राट् को सब कुछ ज्ञात हो गया तो सम्राट् ने समस्त ग़ुलामों को तीन कक्षाओं में विभक्त किया।

(१) बूढ़े—उनकी जागीरें ले ली गईं और सरकार से उनको उपयुक्त पेंशन नियत की गई।

(२) युवा तथा अधेड़—जो हट्टे-कट्टे थे और नौकरी कर सकते थे उनकी जागीरें तो नहीं छीनी गईं किन्तु उनकी नौकरी से अधिक की जो आय होती थी वह वसूल की जाने लगी।

(३) बच्चे तथा निस्सहाय स्त्रियाँ—जो स्वयं कुछ नहीं कर सकते और जो अपना प्रतिनिधि भेजते थे, उनकी भी जागीरें ज़ब्त कर ली गईं और उनके खाने-पीने का उचित प्रबन्ध कर दिया गया।

प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि—"एथन्स में सोलन के क़ानून के समान, यह क़ानून बलबन ने अपनी कक्षा के विरुद्ध बनाया।" इस कार्यवाही से ग़ुलामों में बहुत असन्तोष फैला, कई ने प्रार्थनाएँ कीं, देहली के कोतवाल भी ग़ुलामों की

ओर से प्रार्थना करने गये। इस रोने-पीटने का परिणाम केवल इतना ही हुआ कि बलबन ने बहुत सख़्ती न की, फिर भी अब सर्वदा के लिए ग़ुलामों का अन्त हो गया। विधाता ने ग़ुलामों का अन्त करने तथा नवीन काल के नवीन राजनीतिज्ञ सम्राटों के लिए मार्ग साफ़ करने के लिए एक ग़ुलाम सम्राट् को ही अपना साधन बनाया।

सम्राट् की शक्ति धीरे धीरे बढ़ रही थी। सारे अधिकारों का मूल एक सम्राट् ही था। साम्राज्य के शासन की सारी सत्ता एक व्यक्ति के ही हाथ में थी। उसी की आज्ञा सर्वोपरि थी, किसी को भी यह साहस नहीं होता था कि वह उसकी आज्ञा का उल्लंघन करे।

साम्राज्य में शांति-स्थापना।

सम्राट् के फ़रमान तथा उसकी अन्य आज्ञाओं का अक्षरशः पालन किया जाता था। यह जानने के लिए कि उसकी आज्ञाओं का कोई उल्लंघन तो नहीं करता है और उसके विरुद्ध कोई षड्यन्त्र तो नहीं रचा जा रहा है, एक सुसज्जित जासूस-विभाग नियत किया गया। ये जासूस बलबन के पुत्र तक की कार्यवाही का विवरण बलबन को भेजते थे।

जासूस-विभाग, उद्देश्य तथा परिणाम।

इस जासूस-विभाग का दूसरा उद्देश्य यह था कि सम्राट् को इस बात का पता लगता रहे कि साम्राज्य के न्यायशासक न्याय करते हैं या नहीं। सम्राट् स्वयं न्याय करने में बहुत ही कट्टर था, वह अपने भाइयों, लड़कों, मित्रों तथा साथियों तक को नहीं छोड़ता था। यदि इनमें से भी कोई अन्याय कर बैठता तो उनसे भी दूसरे पक्षवालों

को हर्जाना दिलवाता था। न्याय करने में बलबन उच्च पद, धर्मभेद, तथा किसी भी प्रकार के सम्बन्ध आदि की बातों के विचारों से कभी भी प्रभावान्वित नहीं होता था। कभी कोई जासूस भूल से किसी अन्याय या घटना की सूचना सम्राट् को देना भूल जाता था और यदि सम्राट् को उसकी इस भूल का पता लग जाता तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद का यह कथन बहुत कुछ सच है कि "इस जासूसी विभाग के फलस्वरूप यद्यपि अन्यायों की संख्या घट गई और कई निर्दोष व्यक्ति बच गये किन्तु सामाजिक जीवन की निर्दोष सभ्यता बहुत कुछ नष्ट हो गई[1]।" अपने शासन को सुदृढ़ तथा संगठित करने की बलबन की नीति में आगामी काल की नूतनता का आभास कहीं कहीं पाया जाता है।

शान्ति-स्थापना के लिए अपनी सत्ता का डर बैठाकर तथा जासूस-विभाग की सहायता से भी बलबन की तृप्ति नहीं हुई। सम्राट् ने शासन-पद्धति की त्रुटियों को दूर किया,

शांतिस्थापना का क्रियात्मक प्रोग्राम।

किन्तु साथ ही साथ उसने यह बात भी अपनी प्रजा को जता दी कि जो शासकों की सत्ता का विरोध करेगा, उसे अपने हठधर्मी का बहुत ही कटु परिणाम चखना पड़ेगा। प्रजा को मालूम हो गया कि सम्राट् की आज्ञाओं का विरोध करना मौत को निमन्त्रण देने के समान है।

१. ईश्वरीप्रसाद:—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६४.

दूसरी अत्यावश्यक बात यह थी कि जो जो स्थान विद्रोहियों के अड्डे बन गये थे उनको विद्रोहियों से रिक्त कर दिया जाय, जिससे विद्रोह की जड़ सर्वदा के लिए मिट जाय। इस कारण सम्राट् के पद पर आरूढ़ होते ही बलबन ने मेवातियों को दबाने की आज्ञा दे दी। जंगल साफ़ कर दिये गये और मेवातियों को बुरी तरह से हराया गया। देहली में पुनः गड़बड़ न मचे, इसलिए देहली के आस-पास अफ़गानों के पहरे बिठा दिये गये। सारे देश में शान्ति स्थापित की गई और जिस किसी ने कुछ भी गड़बड़ी की, उसे तलवार के घाट उतार दिया गया। दोआब का प्रांत चिरकाल से विद्रोहियों का निवासस्थान बना हुआ था। यहाँ के हिन्दू राजा समय समय पर विद्रोह करते थे और साम्राज्य के समस्त विद्रोही उन्हीं की शरण लेते थे। बरानी स्वयं लिखता है कि "दोआब के असन्तुष्ट पुरुष तथा जो जो व्यक्ति साम्राज्य की शरण से वंचित थे, वे इतने ढीठ हो गये और उन्होंने रास्तों पर ऐसी गड़बड़ी मचाई कि व्यापारियों का उधर से सुरक्षित निकल जाना कठिन हो गया[१]।" बलबन स्वयं वहाँ जा पहुँचा, सारे प्रान्त को भिन्न भिन्न अफ़ग़ान अमीरों में बाँट दिया। विद्रोहियों के गाँव उजाड़ने तथा सारे विद्रोहियों को निर्दयता-पूर्वक दबाने की आज्ञा दी गई। जितने भी विद्रोही हाथ आ गये, मार डाले गये। रास्ते निष्कंटक हो गये। कम्पिला, पटियाली, भोजपुर आदि स्थान विद्रोहियों के अड्डे थे; यहाँ मुस्लिम सेना रखी जाने लगी, उनके लिए कुछ जागीरें दे दी गई। डाकुओं का अंत हो गया। बलबन का यह प्रबंध इतना

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ १०५.

दृढ़ था और यह उपचार इतना स्थायी प्रमाणित हुआ कि बरानी के कथनानुसार "साठ वर्ष हो गये थे और अभी तक उन राहों पर डाकुओं का पता न था[1]।" जो स्थान पहिले डाकुओं के अड्डे थे, वे अब मुस्लिम सेना के पड़ाव बन गये।

सम्राट् ने शान्ति स्थापित की, शान्ति के घातकों को नष्ट किया और जिस किसी ने उसका विरोध किया, उसे भी नष्ट कर दिया गया। शम्सी ग़ुलामों का पतन कई व्यक्तियों को नहीं रुचा, वे उनके पतन में अपने भावी पतन का चित्र देखने लगे।

विद्रोह-दमन

बलबन का चचेरा भाई शेरख़ाँ, सनाम, लाहौर आदि सूबों का सूबेदार था। ग़ुलामों के पतन की कथा सुन कर वह आत्म-रक्षा के उपाय सोचने लगा और जब बलबन ने उसे दिल्ली बुलाया तो वह नहीं आया। बलबन ने अपने निजी सम्बन्ध का तथा शेरख़ाँ की भूतकाल में की गई साम्राज्य के प्रति सेवाओं का कुछ ख़याल न कर के उसे मरवा डाला। तभी डाक्टर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि "बलबन ने अपनी शक्ति बढ़ाने में पूर्ण निर्दयता का बर्ताव किया, जिस किसी ने उसका विरोध किया, उसे कठिन दण्ड देकर चुप कर दिया गया, या उसे ऐसा दबाया गया कि फिर उठने की शक्ति न रही[2]।"

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ १०५.

२. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६२-३.

अपनी सत्ता का आतंक जमाने के लिए सम्राट् ने कई बार बहुत ही कठोर दण्ड दिये। दोआब में अनेकों विद्रोहियों को मरवा डाला। काटेहार में विद्रोह हुआ तो उसने सारे शहर को जला कर नष्ट करने की आज्ञा दे दी, यहाँ तक कि आठ आठ नौ नौ वर्ष के बच्चों को भी नहीं छोड़ा। बरानी लिखता है कि "विद्रोहियों के रुधिर की नदी बह निकली। लाशों के ढेर के ढेर प्रत्येक गाँव तथा जंगल में दिखाई देने लगे। गङ्गा के तीर पर भी इनके सड़ने की बदबू आती थी। विद्रोहियों में निराशा छा गई, अनेकों ने क्षमा-प्रार्थना की।" इसका इतना प्रभाव पड़ा कि बलबन के "सारे शासनकाल में काटेहार में फिर कभी कोई विद्रोह नहीं हुआ[१]।" विद्रोहियों को इस बात का निश्चय हो गया कि उनके विद्रोह सफल न होंगे और विफल होने पर बलबन की भीषण क्रूरता का सामना करना कठिन हो जायगा।

बंगाल में तुग़रिल का विद्रोह।

तुग़रिल का बंगाल में विद्रोह करना, बलबन के शासनकाल की एक प्रधान घटना है। कई बार बलबन की सेना विद्रोहियों का सामना करने में विफल हुई, किन्तु बलबन ने उद्योग नहीं छोड़ा। उसे मालूम था कि यदि एक बार विद्रोह सफल हुआ तो वह अन्य असन्तुष्ट पुरुषों के लिए बहुत ही बुरा उदाहरण उपस्थित हो जावेगा, सारे जीवन भर की की कराई सब मिहनत पर पानी फिर जायगा।

---

१ ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ १०६.

अतः ज्यों ही इस विद्रोह का हाल सुना, खाना—पीना बलबन के लिए हराम हो गया। क्रोध और क्षोभ से विक्षिप्त हो गया, न तो नींद आती थी, और न भूख ही लगती थी। तुग़रिल ने अपने ही नाम से खुतबा पढ़वाया, तथा अपने ही नाम से सिक्के जारी किये, यह वृत्तान्त सुनकर तो उसकी क्रोधाग्नि भभक उठी। बरानी लिखता है कि— "उसका सारा ध्यान विद्रोह की ओर लगा था। अन्य राज्यकार्य की ओर वह ध्यान नहीं देता था। दिन-रात व्यग्रतापूर्वक अधिक खबर आने की बाट देखा करता था[१]।" जब बलबन की दो सेनाएँ हार गईं तब तो उसने स्वयं चढ़ाई की। वह यह निश्चय करके देहली से रवाना हुआ था कि "जब तक विद्रोही को न पकड़ पावेंगे, तब तक देहली को वापिस न लौटेंगे।" बलबन कहता था कि "हम आधे साम्राज्य के लिए युद्ध कर रहे हैं[२]।" क्योंकर अन्त में तुग़रिल पकड़ा गया यह घटना इतिहास के प्रत्येक पाठक को विदित है अतः उसका विवरण न देंगे।

जब तुग़रिल पकड़ा गया तब बलबन की प्रतिहिंसाग्नि और भभक उठी। लखनौती की सड़क की दोनों ओर विद्रोहियों के सिर टाँगे गये। दो-तीन दिन तक यह मार-काट चलती रही। जिस किसी भिखमंगे के साथ तुग़रिल ने कुछ भी

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ ११३-११४.

२. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ ११७.

दयालुता का बर्ताव किया था, उसे भी बलबन ने नहीं छोड़ा। बरानी लिखता है कि उस समय लखनौती में इतना भीषण रक्तपात हुआ तथा इतना कठोर दण्ड दिया गया कि लखनौती में ही नहीं, भारत में भी ऐसे रक्तपात का विवरण कभी सुनने को नहीं मिला[१]।"

तब बलबन ने अपने द्वितीय पुत्र बुग़राखाँ को, जिसे वह अपने साथ देहली से लाया था, बुलाया और यह शपथ लेने को कहा कि वह सारे बंगाल को जीत कर अपने अधिकार में रखेगा। जब बुग़रा ने शपथ ले ली तो बलबन ने पूछा—"क्या तुमने यह सब देखा?" बुग़रा कुछ नहीं समझा, अतः चुप रहा। दूसरी बार पुनः बलबन ने पूछा—"क्या तुमने यह सब देखा? आश्चर्यचकित बुग़रा चुप रहा। तीसरी बार बलबन ने वही प्रश्न पूछा तथा बोला—"तुमने बाज़ार में दी गई सज़ाएँ देखीं? अगर कभी कोई षड्यन्त्र-कारी तुम्हें इस बात के लिए फुसलावे कि तुम देहली के सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह करो तो प्रतिहिंसा का जो दृश्य तुमने बाज़ार में देखा है उसे याद कर लेना। मेरे कथन का अर्थ समझ लो और यह कभी भी मत भूलो कि यदि किसी भी प्रान्त का सूबेदार विद्रोह करेगा तो उसे वही सज़ा मिलेगी जो तुग़रिल तथा उसके सहायकों को दी गई है[२]।" कितनी भीषण चेतावनी थी! बलबन की उपरोक्त चेतावनी

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ ११६.

२. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ १२०.

से यह स्पष्ट है कि साम्राज्य की एकता को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए वह अपने प्रिय पुत्र तक को बलिदान कर सकता था। बलबन ने जिस प्रकार इस विद्रोह का दमन किया उसके साथ यदि फ़िरोज़ तुग़लक की ढीली-ढाली नीति की तुलना करेंगे तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि कहाँ तक फ़िरोज़ की नीति भारतीय साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी है। यदि बलबन के स्थान पर फ़िरोज़ सा कोई निर्बल शासक होता या फ़िरोज़ के स्थान पर बलबन सा शक्तिशाली शासक होता तो भारत का इतिहास कुछ दूसरा ही होता। लेन-पूल लिखता है कि—"सुदूर पूर्वीय प्रान्त के विद्रोहियों को दबा कर बलबन वहाँ अपना वंश स्थापित कर सका; क्योंकि वहीं उसके वंशज कुछ काल तक निष्कंटक राज्य कर सके[१]।" इस प्रकार बलबन ने विद्रोहियों को तथा शान्ति-विघातकों को नष्ट करके साम्राज्य को सुदृढ़ किया।

बलबन ने क्योंकर साम्राज्य को बाह्य आक्रमणों से बचाया यह भी एक विशेष उल्लेखनीय बात है। इस बात का उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है कि चंगेज़ख़ाँ के लौट जाने के अनन्तर भी बहुत से मंगोल अफ़ग़ानिस्तान आदि सीमान्त प्रदेशों में बस गये थे। इन मंगोलों की शक्ति बढ़ती ही गई, यहाँ तक कि उन्होंने ख़लीफ़ा अल-मुस्तसिम को मार डाला और बग़दाद ले लिया। इधर भारत में लाहौर उनके हाथ में था तथा समय समय पर ये पंजाब और

बलबन की बाह्य नीति। मंगोलों का विरोध।

---

१. लेनपूल:—मेडीवल इण्डिया, पृष्ठ ८७.

सिन्ध पर धावा किया करते थे[1]। मंगोलों के आक्रमण का डर सर्वदा सताया करता था। प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि—"समय समय पर होनेवाले मंगोलों के आक्रमणों की सम्भावना सुलतान को (बलबन को) सर्वदा सताया करती थी[2]।" अपने मन्त्रित्व-काल में भी बलबन ने दो-एक आक्रमणों का सामना किया था। इन आक्रमणों को रोकने के लिए बलबन ने सीमान्त-प्रदेशों में सेना रखने तथा उत्तरी पश्चिमी सरहद को सुदृढ़ करने के प्रयत्न किये। बलबन ने एक अच्छी सेना तैयार की। यह सेना सर्वदा युद्ध में जाने के लिए तत्पर रहती थी। उत्तर-पश्चिमी सरहद पर दुर्ग बनाये गये और जिस राह से मंगोल देहली पर धावा करते थे, उस राह पर दुर्गों की एक श्रेणी निर्माण की गई। इन दुर्गों में भी सुसज्जित सेना रखी गई। ये सरहदी सूबे सम्राट् ने अपने लड़कों के अधिकार में रखे थे। मुलतान का सूबा शाहज़ादा मुहम्मद के अधिकार में था और सामान, सन्नास आदि सूबे बुग़रा के अधिकार में थे।

मंगोलों के आक्रमण के डर का बलबन की बाह्य नीति पर प्रभाव।

मंगोलों के आक्रमण का डर इतना था कि इसका बलबन की बाह्य नीति पर बहुत प्रभाव पड़ा। प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि—"बलबन ने कभी दूर देशों को जीतने का प्रयत्न नहीं किया, अपने को तथा अपने साम्राज्य

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६४.

२. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६४.

को मंगोलों से बचाने में ही उसका सारा ध्यान लगा रहा। शासन-संगठन भी इसी लिए सुदृढ़ बनाया गया था, जिससे साम्राज्य इन भयंकर आक्रमणों का सफलता-पूर्वक सामना कर सके[१]।" अपने २० वर्ष के शासन-काल में केवल एक ही बार—और वह भी तुग़रिल के विद्रोह को दबाने के लिए—बलबन देहली से निकला था। बरानी लिखता है कि "एक बार कई अमीरों ने सम्राट् से पूछा कि—"यह क्या बात है कि एक सुसज्जित सेना के होते हुए भी आप सुदूर देशों पर आक्रमण नहीं करते और न आप देहली छोड़कर ही कहीं पधारते हैं?" सम्राट् ने उत्तर दिया कि—ये विचार मेरे मस्तिष्क में भी उठते हैं, किन्तु न तो चंगेज़ख़ाँ के अनुयायियों के आक्रमण का तथा न उनके द्वारा मेरे साम्राज्य के सरहदी सूबों की रहनेवाली स्त्रियों, बच्चों आदि को निरन्तर दिये जानेवाले दुखों का तुम्हें ख़याल है।.........वे (मङ्गोल) उस सुअवसर की ताक में हैं, जब मैं सुदूर देशों पर आक्रमण करने जाऊँगा और वे मेरे शहरों तथा सारे दोआब पर सुगमतापूर्वक आक्रमण कर सकेंगे। वे देहली का घेरा डालने तथा उसे जीतने का विचार कर रहे हैं।...........मैं इसी कारण अपने साम्राज्य से न तो बाहर जाता हूँ और न कभी दूर देशों में जाने का इरादा है।...........यदि ये विचार कि मैं मुसलमानों का रक्षक हूँ, मुझे न सतावें तो मैं एक दिन भी देहली में नहीं ठहरूँगा[२]।" डाक्टर ईश्वरीप्रसाद

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६४.

२. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३, पृष्ठ १०२-१०३.

लिखते हैं कि—"आत्मरक्षा के विचार से ही बलबन ने दूसरी सब बातों का विचार नहीं किया। वह अपनी सेना को सर्वदा युद्ध के लिए तत्पर रखता था जिससे मंगोलों के निरन्तर होनेवाले आक्रमणों को रोका जा सके[1]।"

बलबन ने मङ्गोलों के आक्रमणों को रोकने के लिए पूरी तैयारी की। इसी कारण उसके शासन-काल में जब जब उन्होंने आक्रमण किये, उन्हें हरा कर भगा दिया गया। सन् १२८५ ई० में समर के सेनापतित्व में उन्होंने पुनः आक्रमण किया। उनके सामना करने पर देहली की सेना के साथ भीषण युद्ध हुआ। युद्ध में शाहज़ादा मुहम्मद मारा गया। शाहज़ादा मुहम्मद पर ही बलबन की समस्त आशाएँ लगी हुई थीं; अतः आँखों के सामने अपनी आशाओं पर पानी फिरते देख कर बलबन के हृदय को कठोर ठेस लगी और इसी दुख के मारे वह भी सन १२८६ ई० में मर गया।

देहली की वैभवशाली राजसभाएँ।

साम्राज्य के आन्तरिक विद्रोहों को दबा कर तथा बाह्य आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करके बलबन ने देहली साम्राज्य को अपने बाल्यकाल में ही नष्ट होने से बचाया। "किन्तु जब वह सिंहासनारूढ़ हुआ तो अपने २० वर्ष के मन्त्रित्व के अनुभव से बलबन को मालूम हुआ कि उस

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६९.

काल में एक वात की वहुत वड़ी आवश्यकता थी—सम्राट् के पद का प्रजा की आँखों में उत्कर्ष वढ़ाना।" × × ×।"[१] अतः "जव वलबन सिंहासनारूढ़ हुआ तो उसने राज्यासन को एक नवीन क्रान्ति-प्रदान की[२]।" सम्राट् ने प्रजा के सम्मुख अपने पद को महान् वताने के लिए अपने आपको उच्च बनाने का प्रयत्न किया। अपने वर्ताव से तथा अपनी राजसभा के वैभव और ऐश्वर्य से उसने प्रजा को आश्चर्यचकित कर दिया। प्रत्येक मनुष्य को वलवन का डर ही नहीं था, किन्तु उसके प्रति हृदय में आदर भी उत्पन्न हो गया। उसकी राजसभा का ऐश्वर्य देखते ही वनता था। बरानी लिखता है कि—"राज्यारोहण के वाद दो वर्षों में उसने अपना वैभव पूर्णतया प्रदर्शित किया। उसकी राजसभा का ऐश्वर्य देखने को दूर दूर से हिन्दू तथा मुसलमान आते थे, और देखकर आश्चर्य-चकित रह जाते थे। आज तक किसी भी मुस्लिम सम्राट् ने देहली को इतना वैभवशाली नहीं वनाया था। अपने २२ वर्ष के (हिजरी सन् के अनुसार) शासनकाल में उसने राज्यासन की महिमा, आदर तथा वैभव ऐसे वनाये कि कोई भी उसकी समानता नहीं कर सकता था[३]।" कहा जाता है कि वलवन के निजी नौकरों तक ने उसे कभी भी विना पूर्ण पोशाक पहने नहीं देखा। उसकी राजसभा के नियम वहुत ही कड़े थे। न तो किसी को हँसने की आज्ञा

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इंडिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७२.

२. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ ९९.

३. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३, पृष्ठ १००

थी और न सम्राट् कभी भी स्वयं हँसता था। दिल्लगी और मज़ाक़ का तो नाम ही क्या? अपने प्रारम्भिक जीवन में बलबन स्वयं शराब पीता था, किन्तु ज्योंही वह सिंहासनारूढ़ हुआ, उसने आश्चर्यजनक संयम के साथ अपनी इस कुप्रवृत्ति को दबाया। अपनी महत्ता बताने के लिए सम्राट् न तो नीचकुल में जन्म लिये हुए पुरुषों को कभी अपने पास ही आने देता था, और न उन्हें उच्च पद प्रदान करता था।

सम्राट् की राजसभा में बड़े बड़े विद्वान् रहते थे। वह उनका आदर करता था। कई विद्वान् शाहज़ादा मुहम्मद के पास भी रहा करते थे, जिनमें अमीर ख़ुसरो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मङ्गोलों के आक्रमणों से त्रस्त तथा निर्वासित कोई १५ सुलतान या शाहज़ादों को बलबन ने अपने यहाँ शरण दी थी, क्योंकि उन्हें शरण देने के लिए बलबन के अतिरिक्त कोई दूसरा मुसलमान शासक नहीं मिला।

सम्राट् बलबन भारत का और विशेषकर पूर्वमध्यकाल का महान् सम्राट् था। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद के कथनानुसार "उसने एक शिशु-साम्राज्य को नष्ट होने से बचाया था।"[1] "बलबन के उद्योग तथा उसके दबदबे के बिना यह असम्भव था कि देहली-साम्राज्य

बलबन का कार्य तथा भारतीय इतिहास में उसका स्थान।

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७४.

आन्तरिक विद्रोहों तथा वाह्य आक्रमणों के भीषण झोकों का सफलतापूर्वक सामना कर सकता[1]।" एक विशाल साम्राज्य में उसने शान्ति स्थापित की, अराजकता और विद्रोह की जड़ें उखाड़ डालीं और उसे वाह्य आक्रमणों से सुरक्षित बनाया।

वीर योद्धा, महान सम्राट् तथा उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ बलबन को भारत के इतिहास में एक विशेष स्थान प्राप्त है। वह अपने कर्तव्य से पूर्णतया परिचित था और उसे पूर्ण करने के लिए भरसक प्रयत्न करता था। अपने मानसिक भावों तथा प्राकृतिक आवेगों का भी वह साम्राज्य के हितार्थ संहार करने को तैयार था। स्वयं दयालु था किन्तु जब आवश्यकता होती थी तो वह बहुत ही कठोर बन जाता था। पारस्परिक प्रेम तथा सम्बन्ध उसे कर्तव्य से च्युत नहीं कर सकते थे। साम्राज्य के लिए वह अपने निकट से निकट सम्बन्धी तथा प्रिय से प्रिय मित्रों को भी मृत्यु-दण्ड देने में नहीं हिचकता था। साम्राज्य के प्रति उसका क्या कर्तव्य है तथा उसको क्योंकर पूर्ण करना चाहिए, यही विचार उसकी समस्त नीति तथा कार्यों को निर्धारित करते थे। घोर से घोर विपत्ति तथा दुख को वह सहन कर लेता था किन्तु फिर भी साम्राज्य के कार्य में गड़बड़ नहीं होने देता था। बरानी लिखता है कि—"शाहज़ादा मुहम्मद की मृत्यु से सम्राट् को बहुत दुख हुआ। सम्राट् को

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६६.

वह प्राणों से भी अधिक प्यारा था। बलबन की सारी आशाएँ उसी के आधार पर स्थित थीं। सम्राट् की उम्र इस समय कोई ८० वर्ष की थी और यद्यपि वह यह प्रयत्न करता था कि इस महान् दुःख का उस पर अधिक प्रभाव न पड़े किन्तु किसी प्रकार वह दुख कम न होता था। दिन भर राजसभा में बैठा वह राज्यकार्य देखता था, मानों वह यह बताना चाहता था कि शाहज़ादे की मृत्यु का उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा, किन्तु रात्रि होते ही दुख का सागर उमड़ पड़ता था; तब वह पागल के समान चिल्लाता था, अपने कपड़े फाड़ता था और पृथ्वी पर लोट लोट कर रोता था[१]।"

कितना हृदय-द्रावक दृश्य था! जिन्होंने कभी भी हृदय पर चोट खाई है, जो कभी भी दिल के दर्द से तड़फे हैं, और जिन्होंने असीम-शोक-सागर में गोता लगाया है वे ही बलबन के इस आचरण की तथा उसके आश्चर्यजनक आत्मसंयम की क़द्र कर सकते हैं। ऐसे महान दुःख को सहना, अपनी आती हुई मृत्यु को देखना, अपनी आशाओं के भवन को नष्ट होते देखना, और उमड़ते हुए दुख के इस प्रवाह को नियन्त्रित करके राज्य-शासन को पूर्ववत् चलाये जाना, बलबन की कर्तव्यनिष्ठा का पूर्ण परिचय देते हैं। ऐसा आचरण करना कितना कठिन है, दुःख का महान् भार उठाये हुए फिर भी उसी शान से अपने मार्ग पर चले जाने के लिए कितने आत्मसंयम की आवश्यकता होती है, यह एक भुक्त-भोगी ही जान सकता है। कितने नरेश हैं, कितने शासक

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ १२३.

तथा सम्राट् हैं जो गर्व के साथ कह सकते हैं कि हम भी बलबन के समान कर्तव्य-परायण हैं ?

अलाउद्दीन का अग्रगामी बलबन।

"बलबन अलाउद्दीन का अग्रगामी था। बलबन ने बढ़ते हुए भारतीय मुस्लिम साम्राज्य को जो शक्ति तथा जो दृढ़ता प्रदान की उसके बिना यह सम्भव न था कि अलाउद्दीन मङ्गोलों का सफलतापूर्वक सामना कर सकता और दूर देशों को जीत[1] सकता।" उसने अलाउद्दीन के लिए राह साफ़ कर दी। यद्यपि दोनों की नीति में बहुत कुछ भिन्नता थी, फिर भी अलाउद्दीन की नीति बलबन की नीति का एक परिवर्तित विकसित रूप थी। सम्राट् के पद का आदर अब बढ़ गया था। सारे देश में शान्ति छा गई थी, उच्च और नीच, सब प्रकार के पुरुष आज्ञाकारी होगये। बाह्य आक्रमणों का डर बहुत कुछ न रहा। इस प्रकार बलबन ने मुस्लिम साम्राज्य को एक व्यवस्थित शासन का स्वरूप प्रदान किया। बलबन की मृत्यु के अनन्तर आगामी दस वर्षों में उसका बहुत कुछ कार्य नष्ट हो गया, किन्तु नीति में जो परिवर्तन हो रहा था वह चलता ही रहा। बालुकामय प्रदेश में जिस प्रकार नदी अदृष्टरूपेण बहती है वही हाल बलबन की नवीन नीति का था। अब आवश्यकता एक ऐसे सम्राट् की थी जो बलबन के कार्य से लाभ उठावे तथा जो नूतन नीति को अपने ढाँचे में ढाल कर पूर्णतया विकसित करे। अलाउद्दीन ने इस आवश्यकता को पूर्ण किया।

---

१. ईश्वरीप्रसादः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७४.

बलबन ने अपने वंश को स्थापित करने के प्रयत्न में अलाउद्दीन के आगमन के लिए द्वार खोल दिया। बलबन चाहता था कि भारतीय साम्राज्य पर केवल उसके वंशज ही राज्य करें। किन्तु विधि का विधान कुछ दूसरा ही था; अब पुरातन नीति के अनुयायियों के लिए स्थान न रहा। इतिहासकार लिखते हैं कि—"बलबन उन सम्राटों में से था जो कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ जाते[१]।" अगर यह कहा जाय कि बलबन के पीछे उसका कोई भी उत्तराधिकारी नहीं रह सकता था तो अत्युक्ति नहीं होगी। समाज के विकास के नियम के विरुद्ध चलना असम्भव था। अपने वंश को स्थापित करने के प्रयत्न में बलबन विधि का साधन-मात्र था। परिवर्तन अवश्यम्भावी था, बलबन ही अज्ञात रीति से उस परिवर्तन का कर्ता बना। उसने शम्सी ग़ुलामों का अन्त किया, और इस प्रकार ग़ुलाम-वंश का भी अन्त कर डाला। अब बलबन के वंशजों के अतिरिक्त ग़ुलाम-वंश का अन्य कोई न रहा। बलबन के पीछे कोई योग्य उत्तराधिकारी न था, अतः ख़िलजियों के लिए राह साफ़ हो गई। समय के साथ धीरे धीरे सब कुछ होनेवाला था। जिस प्रकार की नीति के समर्थक बलबन आदि थे, उस प्रकार के सम्राटों की आवश्यकता अब नहीं थी। शनैः शनैः अज्ञातरूपेण परिवर्तित होनेवाली बलबन की नीति ने भी समाज की प्रवृत्ति को नवीन नीति की ओर झुका दिया। अदृष्टरूपेण मानवसमाज नवीन नीति का समर्थक बना। इसी कारण जब अलाउद्दीन ने आकर एकाएक नीति में महान्

१. लेनपूलः—मेडीवल इण्डिया, पृष्ठ ८६.

परिवर्तन किये, तब भी ये परिवर्तन धर्माधिकारियों के अतिरिक्त किसी दूसरे को नहीं अखरे।

बलबन के शासनकाल में अलाउद्दीन की नीति का बीज बोया गया। जब निर्बल शासकों के शासनरूपी शिशिर का अन्त हुआ तो नवीन नीति का अंकुर फूटा और बड़े वेग से अलाउद्दीन की सहायता से सिंचित होकर बढ़ने लगा। अलाउद्दीन के काल में इस नीति का स्वरूप बहुत ही भिन्न था, क्योंकि विकास के साथ ही कई अत्यावश्यक परिवर्तन हो गये। बीज तथा वृक्ष में जो भेद होता है वही भेद बलबन तथा अलाउद्दीन की नीति में पाया जाता है। दूसरी विभिन्नता परिवर्तन में पाई जाती है। बलबनकालीन नीति में जो कुछ भी परिवर्तन हुए वे अदृष्ट तथा अज्ञात रीति से हुए थे। धीरे धीरे नीति नवीन मार्ग की ओर ढुलकती जाती थी। देश की दशा तथा काल के परिवर्तन के ही फलस्वरूप नीति का यह नवीन मार्ग निश्चित हुआ था। बलबन का कभी भी यह उद्देश्य न था कि वह नीति में परिवर्तन करे। यहाँ तक कि परिवर्तन का पता भी किसी को न लगा। अनजाने ही परिवर्तन हो गया। ४० वर्ष का बलबन-काल भारतीय राजनीति का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होने का ही इतिहास है। अलाउद्दीन की नीति में यह बेबसी न थी। यद्यपि देशकाल के कारण उसकी नीति एक निर्दिष्ट मार्ग की ओर जा रही थी, किन्तु यह स्पष्ट था कि अलाउद्दीन इस नीति का विधाता तथा उसके स्वरूप को निश्चित करनेवाला था। अलाउद्दीन ने

बलबन और अलाउद्दीन की नीति में विभिन्नताएँ।

पहिले अपनी नीति स्थिर कर ली और फिर वह उसे कार्यरूप में परिणत करने लगा। उसको मालूम था कि वह नवीन मार्ग की ओर जा रहा है। तत्कालीन राजनैतिक इतिहास को पढ़ कर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राज्य की बागडोर एक चतुर राजनीतिज्ञ के हाथ में थी, जो देशकाल की दशा के अनुसार अपनी नीति को निश्चित करना जानता था।

तीसरी भिन्नता राज्य-शासन के उद्देश्य में पाई जाती है। बलबन ने देश में शान्ति स्थापित की, बाह्य आक्रमणों को रोकने का प्रयत्न किया, और शासन को सुदृढ़ किया, किन्तु उसका उद्देश्य क्या था? आत्म-रक्षा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। अलाउद्दीन के शासन-काल में कुछ दूसरी ही बात है। उसने शासन को बहुत सुदृढ़ किया, बाह्य आक्रमणों को रोकने के प्रयत्न किये, किन्तु इस सारी नीति के तले एक उद्देश्य उपस्थित था, कि वह इनकी सहायता से उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन स्थापित करे। उसके सारे कार्य केवल इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए किये गये। बलबन की नीति में ऐसे किसी भी उद्देश्य का पूर्ण अभाव है। यह विभिन्नता अत्यावश्यक थी। बलबन के समय में न तो साम्राज्य इतना सुदृढ़ था और न समाज की प्रवृत्ति इतनी विकसित ही थी कि वह किसी उद्देश्य-विशेष को पूर्ण करने का प्रयत्न करता। बलबन के समय में यदि साम्राज्य सुदृढ़ न होता तो अलाउद्दीन की नीति तथा उसके प्रयत्न कहाँ तक सफल होते यह कहा नहीं जा सकता। इतनी बात अवश्य निश्चित रूप से कही जा सकती

है कि बलबन के शासनकाल के प्रारम्भ की अस्थायी दशा में यदि किसी उद्देश्यविशेष को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न किया जाता, तो वह उद्देश्य विफल ही नहीं होता किन्तु साथ ही साम्राज्य को बहुत बड़ा धक्का लगता; साम्राज्य का पतन भी एक असम्भव घटना न होती।

बलबन की मृत्यु हुई और उसके अनन्तर कोई भी योग्य उत्तराधिकारी न रहा। परिवर्तन हो रहा था, और इस परिवर्तन के लिए यह अत्यावश्यक था। जहाँ तक यह प्रमाणित न हो जाता कि गुलामों के राज्य का अन्त होना अत्यावश्यक था, वहाँ तक किसी दूसरे वंश का राज्यारूढ़ होना कठिन था। बलबन की मृत्यु के अनन्तर की अराजकता, कैकूबाद का निर्बल शासन, और जलालुद्दीन की असीम दयालुता, अलाउद्दीन के उत्थान से पहिले की ही अत्यावश्यक पंक्तियाँ थीं। इनके बिना अलाउद्दीन के स्वच्छन्द शासन को जितनी सहायता प्राप्त हुई उतनी कभी भी न मिलती।

किन्तु जब अलाउद्दीन सिंहासनारूढ़ हुआ, परिवर्तन मूर्तिमान् होकर भारतीय राजनैतिक रंगमंच पर अवतरित हुआ। अलाउद्दीन जब नूतन नीति को कार्यरूप में परिणत करने की अपनी शक्ति का उपयोग करने लगा, तब प्रथम बार धर्माधिकारियों को पता लगा कि वह नीति किस ओर जा रही थी। सम्राट् के पद की मान-वृद्धि के परिणाम का तथा स्वच्छन्द शासन के सच्चे अर्थ का इन्हें तभी पता लगा।

६.

अलाउद्दीन।

अलाउद्दीन—मध्यकालीन भारत में उन्नति-शील स्वच्छन्द शासन का प्रभात।

बाँध टूट चुके थे, स्वच्छन्द शासन का प्रवाह भयंकर वेग के साथ हुंकार करता हुआ, बाँध के अवशेषों को रौंदते हुए, राह में समुपस्थित होनेवाली समग्र बाधाओं को हटाते हुए, उमड़ता चला जाता था। देश और काल उसके अनुकूल थे, अतः समस्त अवरोध उसके प्रवाह को रोकने में असमर्थ थे। प्रशान्त सागर में ज्वार की तरङ्गें उठ चुकी थीं, भीषणता से अपनी फेनाच्छादित चोटियों के साथ, समग्र तटवर्ती वस्तुओं को जलनिमग्न करती हुई, बढ़ती चली जा रही थीं। जो कोई उसका विरोध करेगा, वह उन तरङ्गों में डूबेगा, यह अवश्यम्भावी था। एक के बाद दूसरी तरङ्गें इस प्रकार उठती चली जा रही थीं।

बलबन के काल में प्रशान्त सागर की सतह पर छोटी छोटी लहरें अठखेलियाँ करने लगी थीं; अनजाने ही उसने उस सागर की उस समतल सतह का मटियामेट कर दिया था। तूफ़ान आने के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, क्षितिज पर काले काले बादलों की घटा दिखाई देने लगी थी; अब उनकी गड़गड़ाहट भी सुनाई देने लगी। अलाउद्दीन के सिंहासनारूढ़ होते ही यह तूफ़ान चढ़ आया,

और कोई २० वर्ष तक निरन्तर ऐसा चलता रहा कि सारे भारत को हिला दिया। एक नवीन भारत की सृष्टि की। उसके अनन्तर कोई १० वर्ष तक शान्ति रही, किन्तु यह शान्ति केवल आगामी तूफ़ान की चेतावनी दे रही थी। यह दूसरा तूफ़ान पहिले से भी अधिक भयंकर था, उसने समाज को हिला दिया, सारे समाज में क्रान्ति कर दी। यह दूसरा तूफ़ान "मुहम्मद तुग़लक" के काल में आया। किन्तु अलाउद्दीन ही इस दूसरे तूफ़ान का जन्मदाता था, वही उसका प्राण था। उसने जो कार्य आरम्भ किया था, जो प्रवाह बहाया था, उसी को मुहम्मद ने पूर्ण किया। क्योंकर अलाउद्दीन ने उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन प्रारम्भ किया, क्योंकर उसे स्थापित किया, यह भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण बात है और संसार के राजनैतिक इतिहास में एक आश्चर्यजनक घटना है।

अलाउद्दीन के सिंहासनारूढ़ होने के समय भारत की दशा।

बलवन के शासनकाल तक साम्राज्य सेना-प्रधान ही था। पिछले अध्याय में हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि यद्यपि बलवन के काल में नवीन नीति का बीज बोया गया, नीति में परिवर्तन होने लगा, किन्तु फिर भी शासनपद्धति का ऊपरी आवरण पुराना ही था, शासन में सेना को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। इधर जब अलाउद्दीन सिंहासनारूढ़ हुआ, उस समय में पुनः अशान्ति का देश में दौरदौरा हो गया था। भारत में पुनः स्थान-स्थान पर बारम्बार विद्रोह उठते थे, और हज़ारों की हत्या होती थी। निरन्तर सेना-संचालन,

युद्ध और अशान्ति से देश उजाड़ होता जाता था; प्रायः खेत नहीं बोये जाते थे और जो बोये जाते थे, उनकी उपज नहीं होती थी। उत्तर-पश्चिमी राह से बारंबार होनेवाले आक्रमणों के फलस्वरूप पंजाब सा उपजाऊ देश भी चौपट हो गया। मंगोलों के दल के दल समय समय पर मैदानों में उतर आते थे, भीषण अत्याचार करते, निर्दयतापूर्वक मारकाट करके लूटपाट मचाते थे। उसी समय पंजाब में पानी की बड़ी बाढ़ आई, जिससे सैकड़ों निर्धन तथा घरबार-रहित हो गये[1]। उन्हें पेटपूजा के लिए अन्यत्र जाना पड़ा। सारा देश अशान्ति के कारण दुखी था; निरन्तर विद्रोहों तथा युद्धों से देश ऊब गया था। सब ओर शान्ति की चाह थी। शान्ति स्थापित करनेवाले को देश सहायता देने को तैयार था। शान्ति-सुधा प्राप्त करने की आशा से ही वे उस व्यक्ति की आज्ञा मानने तथा उसके अत्याचारों को भी सहने के लिए तैयार थे। भारतीय मुस्लिम साम्राज्य के प्रारम्भिक नेताओं का पतन हो रहा था। बलबन के हाथों और उसके साथ ही गुलामों का अन्त हो गया। उसकी मृत्यु के बाद परिवर्तन का प्रवाह बहुत वेग से बहने लगा। अब देश में पुराने कार्यकर्ता भी न रहे। जो व्यक्ति आगे चल कर देश तथा साम्राज्य के कर्णधार बननेवाले थे, वे अब तक परिपक्वावस्था को प्राप्त नहीं हुए थे, इसी कारण जब परिवर्तन हुआ तो ये नये नेता, नये रंग में रँग गये। पुराने विचारवाले

---

१ रावेर्टी: तबक़ात-इ-नासिरी दी मिहरान ई-सिन्ध। जरनल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी सन् १८९२ ई० पृ० २८०, ३९२, ४९८

कार्यकर्त्ताओं के अभाव के कारण अधिक विरोध न हुआ। पुनः बलबन के शासनकाल में सम्राट् के पद का मान तथा उसके प्रति आदर बहुत बढ़ गया था। अब आवश्यकता एक ऐसे सम्राट् की थी, जिसके व्यक्तित्व में यह नवीन महत्ता पूर्णतया पाई जाय। अल्तमिश की मृत्यु के अनन्तर कोई ऐसा शासक न हुआ जो मानव-समाज को अपनी ओर आकर्षित कर सके। रज़िया स्त्री थी, नासिरुद्दीन एक फ़क़ीर था। बलबन एक महान् सम्राट् था, किन्तु बीस वर्ष तक मन्त्रित्व कर चुका था, उस स्थान पर वह इतने समय तक रहा कि महान् जन-समाज उसे मन्त्री ही मानता रहा। अतः जब वह सिंहासनारूढ़ हुआ, तब उसे इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि कृत्रिम रूप से अपने आपको उस महान् पद के उपयुक्त बनावे। बलबन का नीचकुल में जन्में हुए पुरुषों को अपने पास न आने देना, इन्हीं कृत्रिम उपायों में से एक था। बलबन ने सम्राट् के पद को स्वच्छन्द बनाया, और प्रजा उसे आदरणीय समझे इसके लिए भरसक प्रयत्न किया; फिर भी बलबन संसार को इस बात के लिए उतारू न कर सका कि वे उसकी पूजा करें; किन्तु उसने आगामी सम्राटों के लिए राह साफ़ कर दी।

अलाउद्दीन की सफलता का कारण।

अब आवश्यकता थी एक ऐसे सम्राट् की जो अपनी शक्ति की सहायता से सारे साम्राज्य में शान्ति स्थापित कर सके, जिसके रोम रोम से शान टपकी पड़ती हो, जो सेना का सिरताज हो और जो अपनी वीरता से देश

का नेता बन सके। स्वच्छन्द शासन का प्रवाह उमड़ रहा था, तरङ्गें उठ रही थीं। इस उठते हुए ज्वार के साथ देश की दृष्टि में उच्च और महान् बनने का एक अच्छा अवसर था। सिंहासनारूढ़ होते ही अलाउद्दीन ने देश की दशा पर विचार किया और अपने अनुकूल वातावरण पाया। उसने इससे लाभ उठाया, और उठती हुई तरङ्गों के साथ वह भी ऊँचा उठा। उसने देश की नीति में परिवर्तन करना आरम्भ कर दिया। अलाउद्दीन, स्वच्छन्द शासन के उमड़ते हुए प्रवाह का अनिवार्य फल था। अलाउद्दीन, ग़ुलाम-वंश के अन्तिम शासक कैक़ूबाद की निर्बलता तथा जलालुद्दीन की दयालुता के विरुद्ध प्रतिक्रिया का मूर्तिमान् स्वरूप था।

किन किन बातों से अलाउद्दीन को नवीन नीति को प्रारम्भ करने में सहायता मिली ?

देश की तत्कालीन अवस्था, अलाउद्दीन के विचारों के अनुकूल थी। मुसलमानों को भारत में शासन करते करते तथा यहाँ बसे कोई अर्धशताब्दी से अधिक काल बीत चुका था, इसी कारण उनके विचारों में, उनके दृष्टिकोण में कई परिवर्तन हो गये थे। अपने सुधारों को प्रारम्भ करने में, अलाउद्दीन ने इस परिवर्तित दृष्टिकोण से लाभ उठाया। दृष्टिकोण आदि में यह परिवर्तन तीन प्रकार का था। प्रथम तो जैसा हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, अब मुसलमान भारत को अपनी जन्म-भूमि समझने लगे थे। "यद्यपि समस्त भारत रक्तरंजित, अशक्त, विजेताओं के पाँवों तले पड़ा था, फिर भी भारतीय आदर्श मुसलमानों के सामाजिक तथा नैतिक जीवन में धीरे धीरे प्रवेश करने लगे

थे।"[1] मुसलमान अब भारत को अपनी मातृभूमि समझने लगे, भारत के ही लाभ का वे विचार करने लगे, अतएव जब अलाउद्दीन उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन के मार्ग की ओर अग्रसर हुआ तब कुछ को छोड़ कर प्राय: सारी मुस्लिम प्रजा ने अलाउद्दीन की नीति का मूक समर्थन किया।

प्रारम्भिक मुस्लिम साम्राज्य का सेना-प्रधान होना भी अलाउद्दीन के लिए लाभदायक हुआ। प्रारम्भिक योद्धा मुसलमानों को धर्म का न तो अधिक ज्ञान था, और न उन्होंने धर्म की छोटी छोटी वारीकियों को ही समझने का प्रयत्न किया। ये मुस्लिम शासक धर्म में कट्टर थे, किन्तु धर्मान्ध न थे। वे धार्मिक विचारों से कई बार मारकाट मचा देते थे, किन्तु जो धार्मिक अत्याचार, फिरोज और सिकन्दर लोदी ने किये, वैसे अत्याचार करने की उनकी प्रवृत्ति न थी। मुस्लिम साम्राज्य का संगठन बहुत कुछ क़ुरान के अनुसार था, किन्तु अभी तक यह धर्मप्रधान न था, या यों कहिए, कि धर्माधिकारियों को अभी तक साम्राज्य की नीति पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त न हुआ था। भारत की मुस्लिम प्रजा के धार्मिक विचार शासकों के विचारों से अधिक भिन्न न थे, अत: जब अलाउद्दीन ने, उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन की नीति को आरम्भ करते समय, कई परिवर्तन किये तब संकीर्ण विचारवाले धर्माधिकारियों के अतिरिक्त अन्य मुसलमानों को ये परिवर्तन न अखरे।

हिन्दूप्रजा ने भी अलाउद्दीन की नवीन नीति का विरोध नहीं किया। यह सत्य है कि अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को

[1] हॅवल:-हिस्ट्री आफ़ दी आर्यन रूल इन इण्डिया, पृष्ठ ३०८

बहुत दबाया, किन्तु वे दूरस्थ दर्शक के समान ही नीति के इस परिवर्तन को देखते रहे। उन्होंने धर्माधिकारियों के समान विरोध का झण्डा खड़ा न किया।

उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन-नीति।

अलाउद्दीन ही इस नूतन नीति का प्रारम्भकर्ता था, और इस कार्य के लिए उससे अधिक उपयुक्त कोई भी व्यक्ति नहीं मिलता। अलाउद्दीन स्वयं अपठित था, और उसे न तो धर्म की अधिक परवाह थी, और न धर्माधिकारियों की। अलाउद्दीन को यह बात पूर्णतया विदित थी कि नूतन नीति को प्रारम्भ करने में धर्माधिकारियों के साथ उसकी मुठभेड़ होना अवश्यम्भावी था, किन्तु अलाउद्दीन उनकी परवाह क्यों करने लगा। धर्माधिकारियों के विरोध को देखकर भी वह अपनी नीति पर अटल रहा।

जिस रीति से एकाएक प्रजा को सुखी करना तथा उनकी भलाई करना ही साम्राज्य तथा शासकों का प्रधान उद्देश्य समझा जाने लगा, वह मध्यकालीन भारत के इतिहास में एक आश्चर्यजनक तथा आदरोत्पादक वस्तु है। नवीन नीति का प्रारम्भ ही इस बात का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है कि क्योंकर धीरे धीरे भारतीय आदर्श, मुसलमानों के जीवन तथा विचारों में प्रवेश करने लगे थे। साम्राज्य के उद्देश्य में परिवर्तन करना, शासननीति को एक नूतन मार्ग पर अग्रसर करना, व्यक्तिगत या पक्षविशेष के हानिलाभ तथा धार्मिक विचारों को ठुकराना, मानवसमाज की विचार-शैली में परिवर्तन करना, अलाउद्दीन का सबसे बड़ा—उसकी विजयों तथा सुधारों से भी बढ़कर—कार्य था। विशेषता यह है कि

उसने यह सारा कार्य केवल १०-१५ वर्ष के भीतर ही किया। अलाउद्दीन की यह महान् सफलता ही उसे संसार के महान् सम्राटों में स्थान दिलाती है। भिन्न भिन्न बाधाओं के, तथा अनेकानेक बन्धनों के रहते हुए भी अलाउद्दीन ने जिस प्रकार स्वयं को स्वच्छन्द बनाया, उससे संसार को उसके मस्तिष्क की मौलिकता का पता लगता है। उसका यह कार्य उच्च से उच्च प्रकार की राजनीति का एक उत्कृष्ट नमूना है।

इससे पहले कि हम अलाउद्दीन के इस महान् कार्य पर विचार करें, हम इस नूतन नीति के कार्य-क्रम पर विचार करेंगे। यह नवीन नीति भारतीय मुस्लिम साम्राज्य के इतिहास की एक महान् विशेषता है, मुस्लिम नीति के इतिहास का एक अनोखा अध्याय है।

नूतन नीति का कार्य्य-क्रम।

इस नीति का कार्य-क्रम क्या था? इस कार्य-क्रम में किन किन बातों का समावेश था?

नूतन नीति का प्रथम उद्देश्य, सम्राट् के पद को सर्वोच्च स्थान प्रदान करना तथा उसकी महत्ता की वृद्धि करना था। सम्राट् को पूर्णतया स्वच्छन्द बनाना, उसकी सत्ता को बन्धन-रहित करना, और शासक को अनियन्त्रित रूप से शासन करने देना ही इस नीति का प्रथम उद्देश्य था। लुई १४ वें के राज्यारूढ़ होने के समय फ्रांस में सम्राट् के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा का जो प्रबल प्रवाह आया था, वैसा ही प्रवाह अलाउद्दीन के शासनारूढ़ होने के समय भारत में उमड़ रहा था। पुनः फ्रांस के समान ही इस समय भारत में केवल यही

इच्छा सर्वोपरि थी कि सम्राट् अतीव शक्तिमान् हो जावे, जिससे साम्राज्य में शान्ति स्थापित हो सके तथा बाह्य आक्रमणों का डर जाता रहे। इसी इच्छा से लाभ उठाना, तथा उसे कार्यरूप में परिणत करना ही इस नीति के कार्य-क्रम का सर्वप्रथम विषय था।

साम्राज्य-संगठन इस नीति का दूसरा विषय था। जिस नीति का रिचलू ने फ्रांस में पालन किया, वही नीति भारत में प्रारम्भ की जानेवाली थी। समग्र साम्राज्य के हित को सर्वोपरि बनाना, और उसके लिए धर्म तथा धर्माधिकारियों की अवहेलना करना ही इस नवीन नीति का गुर था। अब केवल धर्माधिकारियों के हित का विचार न करके, शासक, साम्राज्य तथा उसकी समस्त प्रजा के—हिन्दू और मुसलमान, दोनों के—हिताहित, लाभालाभ का विचार करने लगे। इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए, इस नवीन नीति को कार्यरूप में परिणत करनेवाले सम्राटों ने राजनीति को धार्मिक विचारों के प्रभाव से अलग किया, और केवल राज-नैतिक विचारों से ही साम्राज्य के शासन को संग-ठित किया।

इस नीति का तीसरा विषय साम्राज्य को सुदृढ़ बनाना था। आन्तरिक विद्रोहों का उन्मूलन करके, देश में शान्ति स्थापित करना, और साम्राज्य को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित करना ये ही दो प्रधान कार्य थे। जहाँ तक साम्राज्य सुदृढ़ न हो जावे, और विद्रोहों तथा आक्रमणों का डर बना रहे वहाँ तक किसी नूतन नीति का प्रारम्भ करना तथा साम्राज्य का सुदृढ़ होना, एक असम्भव बात थी।

चौथा विषय, साम्राज्य की आर्थिक दशा को सुधारना था। समस्त साम्राज्य में आने-जाने के लिए मार्ग, निवासस्थान आदि की सुविधाएँ करना, तथा आन्तरिक व्यापार और वाह्य व्यापार को उत्तेजना देना अत्यावश्यक था। मुसलमानों के आक्रमण तथा हिन्दू-साम्राज्य के पतन के फलस्वरूप भारत में जो अराजकता तथा गड़बड़ी फैली उससे देश का आर्थिक ढाँचा ढह गया था; अतः देश की आर्थिक दशा सुधारने और उसे आर्थिक एकता प्रदान करने की बड़ी आवश्यकता थी। जब साम्राज्य में शान्ति छा गई तथा जब भारत का बहुत सा भाग एक शासक के अधिकार में आ गया तब इस बात की ओर विशेषरूपेण ध्यान आकृष्ट होने लगा।

पाँचवाँ विषय जिसे इस नवीन नीति के कार्यक्रम में स्थान मिला, वह धर्म-सम्बन्धी समस्या थी। हम इस बात का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि हिन्दुओं के प्रति क्या वर्ताव किया जाना चाहिए, उन्हें किन किन बातों में स्वाधीनता दी जानी चाहिए, साम्राज्य में उनके क्या क्या अधिकार होंगे, आदि प्रश्नों का उत्तर देना अब आवश्यक हो गया। प्रारम्भ में तो मुसलमान देश-विजय में ही लगे हुए थे, किन्तु ज्यों ज्यों साम्राज्य बढ़ता जाता था, और ज्यों ज्यों शासन-संगठन किया जाने लगा त्यों त्यों इन प्रश्नों को सुलझाना अत्यावश्यक हो गया। विशेषतया न्याय-शासन में किन किन नियमानुसार न्यायाधीशों को चलना चाहिए यह निश्चित करना, इस समय अनिवार्य होगया। इन धर्म-सम्बन्धी प्रश्नों को हल करना, इस नवीन नीति का पाँचवाँ

विषय था। क्योंकर इन प्रश्नों को हल किया जाना चाहिए ? किस आधार पर इस विषय-सम्बन्धी साम्राज्य की नीति निर्धारित की जानी चाहिए ? इस नूतन नीति के विधाताओं ने इन प्रश्नों का एक अनोखा ही उत्तर दिया। केवल साम्राज्य के हित का ही विचार करके उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर दिया जाना चाहिए और धर्माधिकारियों को ऐसे प्रश्नों के हल करने में हाथ नहीं डालने देना चाहिए, यही इस नीति के प्रारम्भकर्ताओं का प्रधान उत्तर था। धार्मिक असहिष्णुता के हलाहल विष से इस नीति के पोषक कोसों दूर भागते थे।

छठा तथा अन्तिम विषय साम्राज्य के उद्देश्यों तथा साम्राज्य के कर्तव्यों की वृद्धि करना था। प्रजा के लिए लाभदायक, सुखकारक, और समृद्धिकारी कार्यों को शासक के प्रधान कर्तव्यों में स्थान देना ही इस नीति का अन्तिम उद्देश्य था। इन कार्यों को शासक अपना प्रधान कर्तव्य समझने लगे, यही इस नीति की विशेषता थी। इस प्रकार तत्कालीन राजनीति में आधुनिक सोशियालिस्ट राजनीति का आभास दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन भारत में ऐसे आदर्शों को ग्रहण करना तत्कालीन भारतीय राजनीतिज्ञों की महत्ता तथा उनके हृदय की विशालता प्रदर्शित करती है। इसी विशेषता के आधार पर भारतीय राजनीतिज्ञ, आधुनिक पाश्चात्य प्रजातन्त्र-वादियों को तथा आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिज्ञों को चुनौती दे सकते हैं और बता सकते हैं कि भारतीय शासन की आत्मा में प्रजा के हित का विचार सर्वदा से रहा है। जिन पाश्चात्य इतिहासकारों ने मध्यकालीन सम्राटों

को अत्याचारी तथा प्रजापीड़क कहा है, उनके सम्मुख इस विशेषता को रख कर कोई भी पूछ सकता है कि क्या इस विशेषता को जान कर भी वे भारतीय शासकों के विषय में अपने मत का सफलतापूर्वक प्रतिपादन कर सकते हैं।

इस नवीन नीति का आरम्भ करना, भारतीय राजनैतिक इतिहास में एक महान् क्रान्ति का प्रारम्भ करना था। कैसे

अलाउद्दीन ने क्योंकर यह महान् परिवर्तन किया ?

अलाउद्दीन ने बिना किसी विरोध के स्वयं को स्वच्छन्द बना लिया, क्योंकर अपने शासन-काल में उसने विरोध न होने दिया ये बातें अलाउद्दीन की कूट-राजनीति का परिचय देती हैं। अलाउद्दीन के शासनारूढ़ होने के समय शासन सेना-प्रधान था, अत: अलाउद्दीन ने देखा कि सेना की सहायता के बिना कुछ भी होना सम्भव नहीं। साथ ही प्रजा को भी अपने पक्ष में करना अत्यावश्यक था। अलाउद्दीन को मालूम था कि प्रजा उसकी सहायता तभी करेगी, जब उन्हें इस बात का विश्वास हो जावेगा कि अलाउद्दीन अशान्ति का अन्त कर सकेगा। जहाँ तक प्रजा के हृदय में शासक के प्रति महान् आदर तथा महती श्रद्धा न होगी वहाँ तक यह असम्भव था कि प्रजा शासक के सब कार्यों का पूर्ण समर्थन करे।

अत: ज्यों ही अलाउद्दीन, जलालुउद्दीन का युवराज मान

(अ) दक्षिण पर आक्रमण।

लिया गया, उसने दूर दूर देशों पर आक्रमण करना, प्रारम्भ कर दिया। देवगिरि पर धावा मारा, उसे जीत कर बहुत सा धन साथ

लाया। अपने शासनकाल में भी वह स्वयं कई बार सेनापति बनकर भिन्न भिन्न देश जीतने गया। रणथम्भौर और चित्तौड़ के अजेय दुर्ग हस्तगत कर लिये। अपने सेनापति काफ़ूर को भेजकर सारा दक्षिण जीत लिया, और वहाँ से बहुत सा धन लूट में हाथ लगा। वारङ्गल, द्वारसमुद्र और मा'बार तक उसने धावा मारा।

(व) दक्षिणी आक्रमणों की सफलता का प्रभाव।

अलाउद्दीन ने युद्ध में वीरता दिखाई, अपना युद्ध-कौशल प्रदर्शित किया। सैनिक उसका लोहा मान गये। उन्होंने उसे अपना आदर्श तथा नेता मान लिया। जैसे बोनापार्ट अपने सैनिकों का लाड़ला और एक पूजनीय आदर्श था, वैसे ही अलाउद्दीन ने भी अपने सैनिकों के हृदय पर अधिकार जमा लिया। सैनिकों को लूट के माल में भी हिस्सा मिलता था, जिससे वे उसके बेदाम के दास हो गये। जिसे मनुष्य अपना आदर्श मान ले, एक अनुकरणीय पुरुष समझ ले, और साथ ही जिससे अपना मतलब भी सधता रहे उसकी कौन सहायता न करेगा? इस प्रकार बड़े ही चातुर्य से अलाउद्दीन ने सेना को अपने पक्ष में कर लिया।

अलाउद्दीन की इन विजयों से एक और लाभ हुआ। प्रजा उससे डरने लगी और उसका आदर भी करने लगी। अब उसकी शक्ति का तथा उसके सुधारों का विरोध करने का उनमें साहस न रहा। अलाउद्दीन की वीरता तथा उसकी महान् विजयों का विवरण सुनकर मनुष्य सहम गये। मनुष्य वीरपूजा करता है, और भारत में तो विशेषतया इसका प्राधान्य

रहा है, अतः अब उसकी सेना ही नहीं, अन्य प्रजा भी, अलाउद्दीन का आदर करने लगी। यह देखकर कि जब उसके वैरी तक उसका लोहा मानते थे, कोई इसका विरोध न करता था, देवगिरी, मा'वार, वारङ्गल आदि देशों ने भी उसकी अधीनता, स्वीकार कर ली—चाहे वह नाम-मात्र की ही क्यों न हो—प्रजा ने उसे अपना नेता मान लिया, उन्हें आशा बँधने लगी थी कि यह पुरुष देश में शान्ति स्थापित कर सकेगा। जब अलाउद्दीन ने स्वाधीन देशों को भी जीतकर अपने अधीन किया तब अपने साम्राज्य के आन्तरिक विद्रोहों का दवाना उसके लिए कठिन न था, यह विचार करके ही कोई भी विद्रोह करने का नाम न लेता था। प्रजा ने यह भी जान लिया कि अपनी शक्ति की सहायता से अलाउद्दीन चिरवाञ्छित शान्ति स्थापित कर सकेगा, अतः प्रजा ने अलाउद्दीन की सत्ता, स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की। उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करके वे उसका पालन करने लगे। फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि प्रजा को आज्ञापालक वनाने तथा उनके विरोध को नष्ट करने में अलाउद्दीन ने अपनी सत्ता के आतंक का ही वहुत प्रयोग किया।

यहाँ तक अलाउद्दीन की नीति वलवन की नीति से वहुत भिन्न न थी, किन्तु यहीं से दोनों की नीति पूर्णतया विभिन्न हो जाती हैं। यहाँ से अलाउद्दीन की नीति, जिस ओर प्रवृत्त होती है उसी नवीन प्रवृत्ति के कारण अलाउद्दीन की नीति को उन्नतिशील नीति कहते हैं। सेना को, तथा प्रजा को अपनी ओर करके, अलाउद्दीन को जो शक्ति प्राप्त हुई, उसने अव

अलाउद्दीन के सुधार।

उसका उपयोग नवीन नीति को कार्यरूप में परिणत करने में लगाया। अब उसने शासन-सुधार करना आरंभ किया। इन सुधारों को आरंभ करने में अलाउद्दीन के दो उद्देश्य थे; एक तो प्रजा का भला करना, दूसरे उनकी सहायता से प्रजा को अपने पक्ष में करके, अपनी शक्ति को बढ़ाना।

अलाउद्दीन ने सर्वप्रथम व्यापार-सम्बन्धी सुधार किये[1]। वस्तुओं के भाव ठहरा दिये गये। सब व्यापारियों के नाम एक रजिस्टर में लिखे गये। अलाउद्दीन ने जो नियम बनाये थे, वे अर्थ-शास्त्र के वेत्ताओं के लिए एक पढ़ने तथा विचार करने की बात है। अलाउद्दीन के उस मस्तिष्क में कितनी मौलिकता थी, अपढ़ होकर भी उसे राजकीय बातों का कितना ज्ञान था, यह ये नियम अच्छी तरह बताते हैं। अलाउद्दीन ने इस बात का भी प्रबन्ध किया कि अर्थशास्त्र के स्वाभाविक नियमों के फलस्वरूप उसके सारे सुधार विफल न हो जावें।

(अ) व्यापार-सम्बन्धी सुधार।

इस प्रकार अलाउद्दीन ने दरिद्री से दरिद्री के लिए भी अपनी पेटपूजा का प्रश्न सरल कर दिया। थोड़ी सी ही आमदनी से उसका गुज़ारा हो सकता था। इस तरह उसने प्रजा को बहुत लाभ पहुँचाया। साथ ही अब अलाउद्दीन थोड़े से ही व्यय में एक बड़ी सुसज्जित सेना रख सकता था

---

१. स्थानाभाव से व्यापार-सम्बन्धी सब सुधारों का पूर्ण विवरण नहीं दिया गया है। उसके लिए देखो—ईलियट और डासनः हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ १९२-१९९.

जिससे बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक विद्रोहों का डर कम होगया।

अलाउद्दीन ने देखा कि उसके व्यापार-सम्बन्धी नियम तथा सुधार सब विफल हो जावेंगे यदि कभी अकाल पड़ गया।

(ब) अकाल-विषयक सुधार।

देश में अनावृष्टि से या अतिवृष्टि से कहीं कहीं जो अकाल पड़ जाते थे, उनसे देश को बहुत हानि होती थी, और इससे सरकारी आमदनी कम होने की ही आशङ्का न थी, किन्तु उससे आर्थिक सुधारों का एकाएक भग्न होना अवश्यम्भावी हो जाता। यों लाभ होना तो दूर रहा कई बार घोर विपत्ति आने की सम्भावना थी। अकाल के समय में बड़ी सेना सुसज्जित रखना कठिन हो जाता, जिसके फलस्वरूप पुन: अराजकता फैल जाने का डर था। अत: अलाउद्दीन ने कई नियम बनाये जिनसे अकाल में भी शासन में ढिलाई न आवे, लोगों को भूखों न मरना पड़े तथा उसके व्यापार-सम्बन्धी सारे सुधार बराबर चलते जावें।

अलाउद्दीन ने आज्ञा दी कि दोआब में तथा यमुना के तीर पर और देहली के आसपास के प्रान्तों में धान्य ही बोया जाय, और इस प्रदेश में सरकारी लगान धान्य के स्वरूप में (Rent in Kind) ही लिया जावे। यह लगान सरकारी धान्यागारों में सुरक्षित रखा जाने लगा। अत: "जब कभी वृष्टि कम होती या अन्य किसी कारणों से धान्य की कमी होती तो यह धान्य निकाला जाता और अलाउद्दीन द्वारा निश्चित दर से बेचा जाता। अब अनावृष्टि के समय भी

धान्य बहुतायत से पाया जाता था और नियत दर से भाव नहीं बढ़ने पाता।"[1] तभी तो बरानी लिखता है कि;— "तत्कालीन विद्वान् तथा बुद्धिमान् पुरुष यह देख कर आश्चर्य करते थे कि भाव में अधिक घटा बढ़ी नहीं होती थी।...... अलाउद्दीन के शासनकाल में यही तो विशेषता थी कि यद्यपि कई वर्ष अनावृष्टि हुई, अकाल पड़ा, तथापि धान्य बहुतायत से पाया जाता था, और मूल्य की दर भी वही रहती थी। अलाउद्दीन के समय की यह विशेषता अन्य शासकों के समय में नहीं पाई जाती। जब कभी भी अनावृष्टि होती, प्रतिदिन के आवश्यकतानुसार शहर के प्रत्येक भाग में धान्य बेचा जाता था। साधारण पुरुषों को आधे मन से अधिक नहीं दिया जाता था। इस प्रकार बड़ी सरलता से उन सभ्य पुरुषों तथा व्यापारियों को, जिनके कोई भी जागीर न थी, धान्य मिलता था। ऐसे समय कोई ग़रीब भूखा व्यक्ति बाज़ार में जाता और उसे यदि कोई सहायता न देता और अगर यह बात सम्राट् के कान तक पहुँच जाती तो बाज़ार के प्रधान को दण्ड दिया जाता था।"[2]

यह बात भी विशेषरूपेण उल्लेखनीय है कि अलाउद्दीन ने अपने जासूस-विभाग की सहायता से यह प्रयत्न किया कि उपरोक्त नियमों के उलङ्घन की सूचना उसके पास पहुँच

---

१. ईलियट और डासनः हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ १९३.

२. ईलियट और डासनः हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ १९५.

जावे। "कई व्यापारी वस्तुओं को तौलते समय कम तौल देते। व्यापारी निश्चित दर से तो बेचते थे, किन्तु तौल में गड़बड़ करके ग्राहकों को धोखा देते थे, विशेषतया बच्चों और सीधे-सादे व्यक्तियों को तो वे बहुत ठगते थे।"[१] अलाउद्दीन ने व्यापारियों की धोखेबाज़ी को रोकने के लिए भी कई उपाय किये, और जिस किसी के यहाँ किसी भी प्रकार की गड़बड़ी पाई जाती तो उसे दण्ड दिया जाता था, जिससे कोई भी किसी भी प्रकार की गड़बड़ी करने का साहस न करता।

किन्तु ये सारे सुधार विफल हो जाते यदि इनके फल को चिरस्थायी बनाने के लिए कुछ भी प्रयत्न न किये जाते।

अलाउद्दीन ने क्योंकर सुधारों के फल को चिरस्थायी बनाया ?

यदि बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक विद्रोह देश की शान्ति भंग कर देंगे तो इन समस्त सुधारों का अन्त हो जावेगा, और देश सुखी भी नहीं हो सकेगा। अतः अन्य सुधारों के साथ सैनिक प्रबन्ध की भी बड़ी आवश्यकता थी। मध्यकाल में प्रत्येक राष्ट्र-शासन में सेना एक प्रधान विभाग था, और उसके बिना कोई भी काम नहीं चल सकता था। फिर भी कई बार मंगोल भारत में

(अ) मंगोलों को रोकने के प्रयत्न।

घुस आते थे। उनके आक्रमण निरन्तर हो रहे थे, और उनको रोकने की बड़ी आवश्यकता थी। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त उजड़ गये थे। मंगोलों के आक्रमण को रोकने के लिए

---

१. ईलियट और डासनः हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ १९६.

कोई भी प्रबन्ध नहीं था। बलबन ने जो जो प्रयत्न किये थे, उनका बलबन की मृत्यु के साथ ही अन्त हो गया था। इसी कारण ज्यों ही वे ख़ैबर के दर्रे में से उतरते त्यों ही सीधे देहली के सामने जा पहुँचते थे। एक बार तो बड़ी कठिनाई से इनके हाथों छुटकारा हुआ। सम्राट् ने उनको रोकने के लिए दो कार्य करना आवश्यक समझे; एक तो वायव्य सीमा को सुदृढ़ बनाना, दूसरे एक बड़ी सुसज्जित सेना का प्रबन्ध करना।

बरानी के कथनानुसार, उत्तर-पश्चिमी सरहद को सुदृढ़ बनाने के लिए—"अलाउद्दीन ने सिरी में निवास किया, वहाँ एक महल बनवाकर उसे कुछ काल के लिए अपनी राजधानी बनाई। देहली के क़िले की मरम्मत की गई। मङ्गोलों की राह में पड़नेवाले तथा सरहद पर बलबन के बनवाये हुए क़िलों को उसने दुरुस्त करवाया। आवश्यकतानुसार नये नये दुर्ग बनवाये गये और उन पर पुराने अनुभवी सेनापतियों को नियत किया गया। युद्ध-सामग्री बनाने के लिए कारख़ाने खोले गये। अच्छे अच्छे यन्त्रकारों को बुलवाया और नाना प्रकार के अस्त्र तैयार किये जाने लगे। घास तथा धान्य का उन क़िलों में प्रबन्ध किया गया। समान, तथा दिपालपुर में अच्छी अच्छी सेनाएँ रखी गईं। ये सेनाएँ सर्वदा युद्ध के लिए तैयार रहती थीं। सीमान्त सूबे ग़ाजी तुग़लक मलिक को, जो बाद में ग़यासउद्दीन तुग़लक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ, सौंपे गये। जो जो ज़िले मंगोलों की राह में आते थे वे बड़े बड़े योद्धा अमीरों के अधिकार में दिये

गये। इस प्रकार सारी राह में पुराने योद्धा तथा चतुर सेनापतियों को नियत करके बहुत ही दृढ़ प्रबन्ध किया गया।"[१]

साथ ही "सुलतान को सेना बढ़ाने का भी विचार आया। वह दिन-रात अपने विद्वान् मन्त्रियों से इसी विषय की सलाह किया करता था कि 'क्योंकर मंगोलों को रोका जावे और उन्हें बुरी तरह हराया जा सके'। बहुत विचार के अनन्तर सुलतान तथा उसके सलाहकारों ने यह निश्चित किया कि एक बड़ी सुसज्जित सेना रखी जावे, सेना बहुत बड़ी हो और प्रत्येक सेनापति सुसज्जित हो। उसमें अच्छे अस्त्र-शस्त्रों से सजे हुए, अच्छे घुड़सवार और अच्छे तीरन्दाज़ भी हों, जिससे शीघ्रातिशीघ्र वे युद्ध के लिए तैयार हो जावें। मंगोलों को रोकने का केवल एक यही उपाय दिखाई दिया।"[२] उस समय यह सवाल भी उठा था कि क्योंकर ऐसी सेना बहुत समय तक रखी जा सकेगी क्योंकि इसमें बहुत धन व्यय होगा। किन्तु व्यापार-सम्बन्धी नियमों और सुधारों के फलस्वरूप सेना रखने में व्यय कम होता था, और थोड़े से ख़र्चे में ही बड़ी सेना रखी जा सकती थी।

ये सब प्रबन्ध सन् १३०५ ई० में सम्पूर्ण हो गये। तदनन्तर जब कभी मंगोल देहली पर आक्रमण करने का

---

१. ईलियट और डासन:—हिस्ट्री आफ़ इंडिया, खण्ड ३. पृष्ठ १९१।

२. ईलियट और डासन:—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ १९१.

इरादा करते तो यह सेना उन्हें हराकर दूर दूर तक खदेड़ देती थी और जो मंगोल पकड़े जाते थे, वे मार डाले जाते थे। "मुसलमानों की सेना अब सब दूर सफल होने लगी।"[1] एक बार जो भी मंगोल पकड़ा गया, कोई भी उसके लौट आने की आशा नहीं करते थे। "मंगोल अब इतने डर गये, मुसलमानी सेना का उन्हें इतना डर लगने लगा कि भारत पर बारम्वार आक्रमण करने का जो कुछ चस्का उन्हें लग गया था वह अब छूट गया। सन् १३२० तक वे भारत का नाम तक न लेते थे और न कभी इधर आने का साहस ही करते थे। स्वप्न में भी मुसलमानों का वह ख़ूनी खंजर उन्हें दिखाई देता था। देहली तथा आस पास के प्रान्तों में मङ्गोलों का कुछ भी डर नहीं रहा।"[2]

एक सुसज्जित सेना रखने से दो लाभ हुए। प्रथम तो मङ्गोलों के आक्रमण बन्द हो गये। दूसरे विद्रोहकारियों को भी इस सेना का डर लगता था। अगर कहीं भी छोटा सा भी विद्रोह उठता तो सम्राट् की आज्ञा होते ही यह सेना उसे दबाने के लिए चल खड़ी होती थी। इस सुसज्जित सेना का सामना करना एक कठिन समस्या थी, अतः जिस किसी के भी हृदय में सम्राट् के प्रति असन्तोष था, वे उसे प्रदर्शित करने का साहस नहीं करते थे।

बाह्य आक्रमणों के डर के चले जाने का देश पर बहुत प्रभाव पड़ा। देहली तथा आस-पास के प्रान्तों में अब

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ १९७.

२. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ १९९.

मङ्गोलों का डर न रहा; सब दूर शान्ति छा गई। जो प्रान्त पहले उजाड़ पड़े थे, उनमें अब खेती होने लगी। प्रजा को शान्ति मिली, और अब सम्राट् के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ गई। प्रजा शान्ति की इच्छुक थी, अतः वह सम्राट् को अपना उद्धारक समझ कर, उन्हें अधिकाधिक सहायता देने लगी। अलाउद्दीन का ध्यान अब आन्तरिक विद्रोहों को दबाने तथा सुदूर दक्षिणीय प्रदेशों को जीतने की ओर गया। सम्राट् अधिक स्वच्छन्द हो गया, उनकी सत्ता का विरोध करनेवाला कोई न रहा। अब वह पूर्ण वेग से अपनी नीति को कार्यरूप में परिणत करने में लगा। इस प्रकार सेना की सहायता से शान्ति स्थापित की गई, बाह्य आक्रमणों को रोका गया, और शान्ति के इस वातावरण में अलाउद्दीन ने उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन का भवन निर्माण किया।

बाह्य आक्रमणों के डर के मिट जाने का प्रभाव।

सम्राट् अलाउद्दीन पूर्ण शान्ति तथा अपना एकच्छत्र शासन स्थापित करना चाहता था। उसकी इच्छा थी कि साम्राज्य में सम्राट् के अतिरिक्त कोई भी दूसरी सत्ता न रहे। पूर्ण स्वच्छन्द शासन स्थापित करना ही उसका एकमात्र ध्येय था। वह सर्वप्रकार के विरोधों का अन्त करना चाहता था क्योंकि उसे इस बात का पूरा पता था कि विरोध की ही चट्टान पर उसके सुधार की ही नहीं, उसकी शासन-नौका भी डूब जावेगी। अलाउद्दीन चाहता था कि भारतीय सागर में ऐसी कोई भी चट्टान न रहने पावे, क्योंकि तभी वह निश्चिन्त होकर स्वच्छन्द रीति से विचरण कर सकेगा।

अलाउद्दीन को आशङ्का थी कि भारतीय हिन्दू प्रजा शायद उसका विरोध करेगी। हिन्दू स्वाधीनता का सुस्वाद अभी तक नहीं भूले थे, और पुनः चखने के लिए लालायित हो रहे थे। मुसलमानों को अपनी स्वाधीनता के अपहर्ता समझ कर उन्हें अपना वैरी समझते थे। यह एक प्रकार से निश्चित था कि वे बारंबार मुस्लिम साम्राज्य को नष्ट करने का उपाय करेंगे। अतः अलाउद्दीन ने काजी मुघिसुद्दीन को कहा था कि—"इस बात का पूर्ण विश्वास रखो कि वे (हिन्दू) जहाँ तक निर्धन न हो जावेंगे वहाँ तक कभी भी नम्र तथा आज्ञाकारी न होंगे।"[1] इसी कारण अलाउद्दीन ने हिन्दुओं पर बहुत सख़्ती की और उसके आज्ञानुसार अब उनके पास आवश्यकता से अधिक धन न रहने दिया। "शासकों की नीति यह थी कि हिन्दुओं के पास इतना धन न रहने पावे, जिससे वे घोड़ों पर चढ़ सकें, अच्छे अच्छे वस्त्र पहिन सकें, हथियार रख सकें, और सुखपूर्वक अपना जीवन बिता सकें। हिन्दुओं ने दोआब में विरोध किया तो सख़्ती के साथ उन्हें दबा दिया गया। उपज का आधा भाग लगान के तौर पर उनसे लिया जाता था। ढोर चराने का तथा मकान तक का कर वसूल किया जाता था। हिन्दुओं की दशा, इतनी ख़राब हो गई कि खुत और मुक़द्दमों की स्त्रियों तक को मुसलमानों के यहाँ नौकरी करनी पड़ती थी।"[2]

(ब) हिन्दू प्रजा पर दमन। इस नीति का कारण।

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड/३. पृष्ठ १८५.

२. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २०६.
ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ १८२-३.

किन्तु ये सब अत्याचार राजनैतिक विचारों से ही किये जाते थे। फ़िरोज तुग़लक़, सिकन्दर लोदी तथा अन्तिम महान मुग़ल सम्राटों—शाहजहाँ और औरङ्गजेब—द्वारा किये गये अत्याचारों के उद्देश्य से अलाउद्दीन का उद्देश्य बहुत ही भिन्न था। फ़िरोज आदि के अत्याचार धार्मिक विचारों से किये गये थे, अलाउद्दीन के उद्देश्य में केवल राजनीति की ही पुट थी। दूसरी ज्ञेय बात यह है कि अलाउद्दीन ने जो कुछ किया, वह उसके निजी विचारानुसार हा था। जिस किसी बात को वह ठीक समझता था, वही बात वह करता था। न तो उसने काजियों से सलाह ली, और न उसने धार्मिक ग्रन्थों को उलटा। काजी मुघिसुद्दीन ने जब धर्मग्रन्थों के अनुसार हिन्दुओं की क्या दशा होनी चाहिए यह बताया तो अलाउद्दीन ने मुस्करा कर कहा था कि "ओ विद्वान् पुरुष, तुम विद्वान् हो, किन्तु तुम्हें दुनिया का अनुभव नहीं है; मैं अपढ़ हूँ किन्तु मैंने दुनिया बहुत देखी है। तुमने जो कुछ कहा, उसमें से मैं कुछ भी नहीं समझता किन्तु मैंने सब कुछ ध्यानपूर्वक देखा है, तथा मैंने ऐसा ही प्रबन्ध किया है कि वे (हिन्दू) आज्ञाकारी हो जावें।"[१]

एक और विचारणीय बात यह है कि अलाउद्दीन ने उन्हें दरिद्री बना दिया, उनकी आर्थिक दशा बिगाड़ दी, किन्तु उनके धर्म पर हस्तक्षेप नहीं किया। अलाउद्दीन राजनैतिक अधीनता चाहता था, धार्मिक बातों में हाथ डालने की उसकी इच्छा न थी। उसे तो स्वयं को स्वच्छन्द बनाकर

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ १८५.

उन्नतिशील शासन स्थापित करने की ही लगी थी, उसे धर्म की परवाह न थी। रिचलू ने केवल राजनैतिक विचारों से ही प्रोटेस्टेण्टों का दमन किया, त्यों ही अलाउद्दीन ने भी राजनैतिक विचारों से ही प्रेरित होकर हिन्दुओं के प्रति अत्याचार किये।

(स) मुसलमान प्रजा पर दमन।

अगर अलाउद्दीन केवल हिन्दुओं का ही दमन करके रह जाता तो सम्भव था कि लोग उसके इस कार्य में धार्मिक विचारों का प्रभाव देख पाते, और उसे स्वधर्मानुयायियों का पक्षपाती कहते। किन्तु यह बात न थी। बरानी ने स्वयं लिखा है कि "धार्मिक भ्रातृत्व के........विचार उसे नहीं सताते थे।"[1] अलाउद्दीन यह चाहता था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों उसके अन्धानुयायी हों, कोई भी—मुसलमान भी—उसका विरोध न करें। अलाउद्दीन ने मुसलमानों के पास भी अधिक धन नहीं रहने दिया। बरानी लिखता है कि—"मलिक, अमीर, सरकारी कर्मचारी, मुलतानी तथा बनियों के अतिरिक्त किसी के भी पास आवश्यकता से अधिक एक अधेली भी न रहने पाई। किसी न किसी रीति से उनका सारा धन सरकारी कोष में पहुँचा दिया गया। जिस किसी के जागीर थी, वह भी छीन ली गई, और कुछ हज़ार टंकों के अतिरिक्त सारी पेंशने, जागीरें आदि सब बन्द कर दी गईं या ज़ब्त कर ली गईं। सब मनुष्य अपने पेट के प्रश्न को हल करने में ऐसे लगे हुए थे कि किसी को भी विद्रोह करने की नहीं सूझती थी।"[2]

---

१ ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ २०५-६.

२ ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृ ष्ठ१७१.

साधारण प्रजा से भी अधिक अलाउद्दीन अमीरों से डरता था। उसे सर्वदा यह आशंका बनी रहती थी कि कहीं कोई अमीर विद्रोह न कर बैठे। हाजी मौला के विद्रोह के अनन्तर (१२९९ ई०) अलाउद्दीन ने इस विषय पर बहुत विचार किया कि क्योंकर इन विद्रोहों का अन्त किया जा सकता था। अलाउद्दीन को इन विद्रोहों के चार प्रधान कारण दिखाई दिये।

(द) अमीरों पर दमन।

(१) अच्छे और बुरे मनुष्यों की कारवाई का सम्राट् को पता न लगना।

(२) मदिरा—मदिरापान के लिए प्राय: मजलिसें होती थीं और बाद में इन्हीं मजलिसों में षड्यन्त्र रचे जाते थे।

(३) मलिकों, अमीरों, आदि में मित्रता तथा पारस्परिक सम्बन्ध। इसी कारण जब सम्राट् किसी एक-आध मलिक को दण्ड देता तो उसके साथ ही कई अन्य अमीर भी विद्रोही बन बैठते थे।

(४) सम्पत्ति—सम्पत्ति प्राप्त करके मनुष्य सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें कोई उद्योग-धन्धा नहीं था, अत: उन्हें विद्रोह की सूझ स्वाभाविक ही थी।

क्योंकर अलाउद्दीन ने अपनी प्रजा की सम्पत्ति हरण की इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। बाक़ी तीन कारणों को मिटाने के लिए अलाउद्दीन ने जो जो प्रयत्न किये अब हम उनका विवरण लिखेंगे।

अलाउद्दीन ने मदिरापान का निषेध किया। वह स्वयं पहिले बहुत शराब पीता था। किन्तु अब आश्चर्यजनक संयम के साथ उसने मदिरापान छोड़ दिया। अपने मदिरा-पान के सारे प्याले फुड़वा डाले और सारी मदिरा परनाले में उँडेल दी गई। अलाउद्दीन ने अमीरों को आज्ञा दी कि वे हाथी पर बैठ कर डोंडी पीट दें कि कोई भी शराब न पिये, और न कोई महफ़िल ही की जावे। शराब के लिए सख़्त निगरानी की जाती थी। शहर के दरवाजों पर आने-जाने वालों की तलाशी ली जाने लगी। फिर भी कई व्यक्ति चोरी से शराब लाते थे और शहर में बहुत दाम पर बेचते थे, किन्तु जब कभी चोरी पकड़ी जाती तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। इतना होने पर भी कई पियक्कड़ मदिरा का त्याग नहीं कर सके, वे देहली से दूर किसी गाँव में जाकर चोरी से शराब पीते थे। कुछ दिनों बाद सम्राट् ने यह आज्ञा दे दी कि अगर कोई चाहे तो अपने घर पर शराब तैयार कर ले; किन्तु न तो उसे बेचे और न कोई महफ़िल हो करे। उपरोक्त नियमों का फल यह हुआ कि अब षड्यन्त्र नहीं रचे जाते थे, और अब विद्रोहों का डर भी कम हो गया।

अलाउद्दीन ने अमीरों के लिए यह नियम भी बनाये कि वे एक दूसरे के मकान पर न जायँ, और न कभी वे आपस में एक दूसरे से मिलें। अलाउद्दीन की आज्ञा बिना वे आपस में शादी-विवाह तक नहीं कर सकते थे। कोई भी अजनबी व्यक्ति अमीरों के मकान में नहीं जाने पाता था। जिन व्यक्तियों के विषय में यह शंका होती कि वे षड्यन्त्रकारियों में से है तो उन्हें अमीरों के मकानों के पास तक नहीं

जाने दिया जाता। यदि कहीं सराय में भी दो अमीर मिल जाते तो, उन्हें वहाँ भी पास पास सोने बैठने की आज्ञा न थी।

इन नियमों का कोई उल्लंघन न करे, तथा अमीरों और अन्य पुरुषों की कार्यवाही जानने के लिए अलाउद्दीन ने जासूस-विभाग नियत किया। इन जासूसों के द्वारा सम्राट् को षड्यन्त्रकारियों का भी पता लग जाता था। विशिष्ट पुरुषों और विशेषतया अमीरों का इधर से उधर घूमना तक अलाउद्दीन से छिपा नहीं रहता था। अमीरों और कर्मचारियों के घरों पर क्या हो रहा था, इसकी सूचना प्रतिदिन सम्राट् को दी जाती थी। एक दूसरे से बात करना तो दूर रहा, अपने मकान में भी अमीर ज़ोर से बात नहीं कर सकते थे। इन्हीं जासूसों और छोटे छोटे बच्चों की सहायता से सम्राट् इस बात का भी पता लगा लेते थे कि बाज़ार में कोई व्यापारी निश्चित दर से अधिक मूल्य तो नहीं ले रहा है, या तोल में घटा-बढ़ी तो नहीं कर रहा है।

अलाउद्दीन के उपरोक्त नियमों में से कई बहुत ही कठोर थे, उनसे देहली का सामाजिक जीवन बहुत कुछ नष्ट हो गया। किन्तु अलाउद्दीन की इच्छा पूर्ण हो गई; विरोध तथा विद्रोह करने के विचार अमीरों के मस्तिष्क में अब नहीं आते थे। जिस नीति का पालन सम्राट् अलाउद्दीन ने किया था, उसका समर्थन करना कठिन है, किन्तु यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि जिस उद्देश्य से ये नियम बनाये थे, वह पूर्णतया सफल हुआ।[1] जो कार्य रिचलू और मेजेरिन ने

१. उपरोक्त कथन की सत्यता का पता, अलाउद्दीन की मृत्यु के अनन्तर की दशा देखने से लगता है। अलाउद्दीन की मृत्यु के

फ्रांस के लिए किया, वही कार्य पूर्व-मध्यकाल में भारत में अलाउद्दीन ने किया।

(च) विद्रोहियों का दमन।

उपरोक्त नियमों के कारण अब कोई षड्यन्त्र नहीं होते थे। अमीरों को विद्रोह करने का न तो साहस था, और न विद्रोह करने का उन्हें अवसर ही मिलता था। सम्राट् के जासूस उन्हें षड्यन्त्रकारियों की सूचना देते थे और जब सम्राट् को निश्चित पता लग जाता था तो वह बहुत ही भीषण दण्ड देता था।

मंगोल पर्याप्त संख्या में भारत में बस गये थे। देहली को भी बहुतों ने अपना निवासस्थान बना लिया था; तथा उन्होंने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया। ये मंगोल "नये मुसलमान" कहलाते थे। एक बार सम्राट् को पता लगा कि सेना में भर्ती हुए २ कुछ नये मुसलमान विद्रोह करने की तैयारियाँ कर रहे थे; तब तो अलाउद्दीन के क्रोध का वारापार न रहा। सब नये मुसलमानों को मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। अपराधी और निर्दोष कुल मिलाकर कोई बीस-तीस हज़ार नये मुसलमानों को क़त्ल करवा दिया। सम्राट् ने इस बात का विचार नहीं किया कि क़ुरान ने मुसलमानों को मृत्यु-दण्ड देने का निषेध

अनन्तर देहली की जो दशा थी, उसे डाक्टर ईश्वरीप्रसाद यों व्यक्त करते हैं—"अब सामाजिक जीवन अधिक मनोहर था, किन्तु पुराने नियमों में ढिलाई आ जाने के साथ ही साथ सम्राट् के प्रति आदर, और उनका वह भय भी अब घट गया था।"

मेडीवल इण्डिया:—द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २१७।

किया है। बरानी लिखता है कि "इस घटना के अनन्तर कभी भी देहली की शान्ति भंग न हुई।"[1]

सारे देश में अब बहुत कुछ शान्ति छा गई, विद्रोह बन्द हो गये, राहों पर डकैती आदि का डर न रहा। सड़कों पर लूट-खसोट न होती थी। शासन-काल के अन्तिम दिनों में मुसलमानों का नैतिक जीवन अधिक उन्नत हो गया था; वे सत्यभाषी, न्यायप्रिय, संयमी, ईमानदार और सदाचारी हो गये।[2]

अलाउद्दीन के प्रयत्नों का परिणाम।

अन्त में हम अलाउद्दीन के सबसे महत्त्व के कार्य तथा उसकी नीति के सबसे बड़े भाग पर विचार करेंगे; यह था धार्मिक विचारों के प्रभाव से शासन-नीति को दूर हटाना। अलाउद्दीन के विचारानुसार "राजनीति और शासन, धार्मिक नियम तथा शास्त्रीय आज्ञाओं से बहुत ही विभिन्न थे। राजकीय आज्ञाएँ बादशाह देता था, और धार्मिक बातों से सम्बन्ध रखनेवाली आज्ञाएँ काजियों और मुफ्तियों के निर्णय पर अवलम्बित थीं। अतः जब कभी राज्य-शासन-सम्बन्धी कोई भी कार्य अलाउद्दीन के सम्मुख निर्णय के लिए आता था तो वह केवल प्रजा ही के लाभ का विचार करके अपनी नीति निश्चित करता था। वह इस बात की परवाह न करता था कि उसकी नीति धर्म-शास्त्र के अनुसार थी या नहीं।

धर्म तथा शासननीति का विच्छेद।

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ २०६।
२. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ २०६-७।

राजनैतिक प्रश्नों को सुलझाने में वह कभी भी धर्मशास्त्र का मत जानने की परवाह नहीं करता था।"[1] अलाउद्दीन ने अपने विचारों को स्पष्ट शब्दों में काजी मुघिसुद्दीन के प्रति प्रदर्शित किया था। अलाउद्दीन को मालूम था कि जब तक वह सब प्रकार के बन्धनों से रहित न हो तब तक वह पूर्णतया स्वच्छन्द नहीं हो सकता था। धर्म तथा धर्माधिकारियों के प्रति मुसलमानों का बहुत आदर था। वे उनके हृदयों पर अखण्ड राज्य करते थे। न्यायशासन आदि विभाग भी उन्हीं के हाथ में थे। उन दिनों यह भी अत्यावश्यक समझा जाता था कि किसी भी कार्य को करने से पहिले शासक धर्मशास्त्रज्ञों से यह पूछ ले कि जो कुछ वह करता था, वह न्याय-संगत था, कि नहीं। इस प्रकार शासक की नीति पर धर्मशास्त्रज्ञों और धर्माधिकारियों के विचारों का बहुत प्रभाव पड़ता था। अलाउद्दीन ने इन सब बन्धनों की अवहेलना की। सेना उसकी सहायक थी। प्रजा का वह एक सर्वमान्य नेता था, उनका वह उद्धारक था, अतः वे उसकी सहायता करने को तैयार थे। इसी बल पर अलाउद्दीन राजनीति को धर्माधिकारियों के प्रभाव से दूर करने का साहस कर सका। ऊपर अलाउद्दीन की नीति का उल्लेख किया जा चुका है। राजनैतिक बातों में अलाउद्दीन ने कभी भी धर्मग्रन्थों की आज्ञाओं की परवाह न की। हिन्दुओं के प्रति अपनी नीति निश्चित करने में भी अलाउद्दीन ने अपनी मनमानी ही की। तहसील के विभागों में जो कर्मचारी सरकारी कोष को हड़प कर जाते थे, या जो

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३, पृष्ठ १८३।

घूस लेते थे, उनको भी दण्ड देना धर्माधिकारियों को अखरता था। काजी मुघिसुद्दीन ने अलाउद्दीन को कहा था कि—"ऐसे अपराधियों को दण्ड देने का धर्म तथा क़ानून के ग्रन्थों में कोई विधान नहीं है। अगर कोई ऐसा कार्य करे तो उस पर जुर्माना कर सकते हैं, उसे क़ैद किया जा सकता है किन्तु यह न्यायसंगत नहीं है कि चोरों को उनके हाथ काटे जाने का दण्ड दिया जावे।"[1] किन्तु अलाउद्दीन किसकी सुनने-वाला था?

लूट-खसोट या आक्रमण करने पर जो धन आता था, उसका बहुत बड़ा भाग अलाउद्दीन अपने उपयोग में लाता था। यह पहिले कहा जा चुका है वह मुसलमानों को भी मृत्यु-दण्ड देता था। अपनी इस नवीन नीति के समर्थन में अलाउद्दीन ने एक बार कहा था कि—"यद्यपि मैंने इस्लाम-धर्म के धर्मग्रन्थ नहीं पढ़े किन्तु मैं कट्टर मुसलमान हूँ। जिन विद्रोहों में हज़ारों पुरुष मारे जावेंगे उनको रोकने के लिए मैं ऐसी आज्ञाएँ देता हूँ जिनसे साम्राज्य तथा प्रजा का हित हो। मनुष्य बेपरवाह हो गये हैं, वे मेरा आदर नहीं करते और मेरी आज्ञाओं का उल्लंघन करते हैं तब उन्हें आज्ञाकारी बनाने के लिए मुझे सख़्ती करनी पड़ती है।"[2] बरानी स्वयं एक स्थान पर लिखता है कि "सम्राट् को केवल साम्राज्य के हित की परवाह थी।"[3]

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ २८५.

२. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ १८८

३. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ २०५।

अलाउद्दीन का ध्येय था कि साम्राज्य में केवल एक ही शासक हो; उसी की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन किया जावे। सारी प्रजा--चाहे जिस कक्षा की हो, चाहे जिस धर्म की हो—विनतमस्तक होकर उसकी आज्ञाओं का पालन करे। अतः मुसलमानों को भी दबाने में उसने बहुत सख़्ती की। धर्माधिकारियों की भी शक्ति हरण कर ली, जिससे वे किसी प्रकार सम्राट् को अपने इच्छानुसार चलाने का विचार भी न कर सकें।

अलाउद्दीन चाहता था कि शासक तथा साम्राज्य का संचालन किसी एक पक्ष या विभाग के हाथ में न हो। इस्लाम-धर्मानुयायी और मुस्लिम धर्माधिकारीवर्ग भारतीय प्रजा के एक छोटे से विभाग के द्योतक-मात्र थे। अतः उनका शासन एक पक्ष का शासन ही होता। इसी कारण धर्माधिकारियों के मत की अलाउद्दीन कुछ भी परवाह नहीं करता था। पुनः साम्राज्य के हित के लिए ही वह मुसलमानों को भी दबाता था। अलाउद्दीन के निम्नलिखित कथन उसकी नीति को पूर्णतया व्यक्त करते हैं। वह कहता था कि—"मैं नहीं जानता कि यह न्यायानुकूल है या नहीं। केवल साम्राज्य की भलाई के लिए जो बात अवसरोचित प्रतीत होती है, वही करने की मैं आज्ञा देता हूँ।"[१]

यों अलाउद्दीन ने धीरे धीरे उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन का विशाल भवन निर्माण किया। अब आवश्यकता थी एक चतुर शिल्पकार की जो अपनी कला से, अपने चातुर्य्य से,

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ १८८।

तथा विद्वत्तापूर्ण मस्तिष्क की सहायता से गढ़ कर इस भवन को अधिक सुन्दर बना दे। जहाँ कहीं उस अपठित किन्तु अद्भुत शिल्पी—अलाउद्दीन—ने अपने कार्य में उच्च प्रकार के चातुर्य्य तथा सूक्ष्म बातों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था, वहाँ वहाँ आवश्यक परिवर्तन करके सारे भवन को राजनैतिक शिल्पकला का एक अपूर्व नमूना बना सके, एक ऐसे पुरुष की अब आवश्यकता थी। अलाउद्दीन की मृत्यु हुई और उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि यह बना बनाया भवन शीघ्र ही ढह जावेगा, और उसी सम्राट् की मीनार के समान ही एक अपूर्ण किन्तु आश्चर्य्यजनक वस्तु रह जावेगी। विधि का विधान कुछ दूसरा ही था, उसे यह मंजूर न था कि यह भवन अधूरा ही रह जावे। पूरे दस वर्ष बाद अलाउद्दीन के इस असमाप्त भवन को सम्पूर्ण करने के लिए एक अद्भुत चातुर्य्यवाला तथा कला-कौशल में निपुण शिल्पी आया। उसने रहा सहा सारा कार्य पूर्ण कर दिया, इसका नाम था मुहम्मद तुग़लक।

७.

मुहम्मद तुग़लक

७.

मुहम्मद तुग़लक़—पूर्व मध्यकालीन भारत में उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन का मध्यान्ह तथा उसके पतन का प्रारम्भ ।

भारतीय मुस्लिम राजनीति के इतिहास में अलाउद्दीन को एक विशेष स्थान प्राप्त है । उसने एक नवीन नीति को जन्म दिया । यह नवीन नीति भारतीय इतिहास में एक अनोखी बात थी । इस नीति के अनुसार साम्राज्य तथा प्रजा के हित का विचार करना ही शासक का सर्वप्रथम कर्तव्य था; साम्राज्य की नीति को निर्धारित करने में दूसरी किसी भी बात का विचार नहीं किया जाता था । मुस्लिम-साम्राज्य में प्रथम बार इस नीति का प्रयोग किया जा रहा था । अपने २० वर्ष के शासनकाल में अलाउद्दीन ने इसे विकसित होने में सहायता दी । किन्तु जैसा पहले ही कहा जा चुका है, अलाउद्दीन के समय इस नीति का पूर्णस्वरूप नहीं दिखाई दिया । इस पूर्ण विकास के लिए एक पठित सुयोग्य शासक की छत्रच्छाया की आवश्यकता थी । अलाउद्दीन स्वयं अपठित था । यद्यपि उसके उर्वर मस्तिष्क से इस नीति की वृद्धि में बहुत कुछ सहायता मिली किन्तु फिर भी अलाउद्दीन के अपठित होने का प्रभाव नीति पर पड़े बिना नहीं रहा । अलाउद्दीन की नीति तथा उसके कार्यों में संस्कृति का अभाव

पाया जाता था। इस नूतन नीति को संस्कृति से अभिसिंचित करने के लिए, एक विद्वान् तथा बुद्धिमान् सम्राट् की बड़ी आवश्यकता थी। अतः अलाउद्दीन की मृत्यु के कोई १० वर्ष बाद जब गयासुद्दीन तुग़लक का पुत्र जौना, मुहम्मद-बिन-तुग़लक के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ तो उसने अलाउद्दीन की नीति को ग्रहण किया, और आवश्यक परिवर्तन करके उसे पूर्णस्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। अलाउद्दीन की नीति में मुहम्मद ने अपने ही विचारों का आभास देखा, अतः एकबारगी वह इस नीति की ओर आकर्षित हुआ।

अलाउद्दीन की नीति को पूर्ण विकसित स्वरूप देना ही मुहम्मद ने अपना प्रधान कर्तव्य समझा। मुहम्मद ने अलाउद्दीन की नीति के अभावों को सम्पूर्ण करने की सोची। उसने अपने कर्तव्य को पूर्ण करने के लिए भरसक प्रयत्न किया। अपनी योग्यता, सर्वतोमुखी प्रतिभा, तथा अपने हृदय की विशालता के कारण मुहम्मद पूर्णतया इस महान् कार्य के उपयुक्त था।

मुहम्मद १३ वीं शताब्दी का ही नहीं, भारतीय मुसलमान सम्राटों में, औरङ्गज़ेब के अतिरिक्त सबसे अधिक विद्वान् था। उसकी लेखन-कला, उसकी भाषा के सौन्दर्य, तथा उसकी कल्पना की मौलिकता का बड़े बड़े विद्वान् भी लोहा मानते थे। उस काल का कोई भी विद्वान् मुहम्मद की समता नहीं कर सकता था। उसे इतिहास का पूर्ण ज्ञान था; साथ ही साथ विज्ञान, वैद्यक, काव्य आदि विषयों

मुहम्मद की योग्यता तथा उसका चरित्र।

के ज्ञान का भी वह आगार था। इन विषयों के विशेषज्ञ भी उसके साथ वाद-विवाद करने का साहस न करते थे। वेदान्त की गहन गुत्थियों को सुलझाने के लिए सिरपच्ची करने में भी उसे बहुत आनन्द आता था। नवीन ज्ञान उपार्जन करने के लिए वह सर्वथा उत्सुक रहता था। फरिश्ता तो यहाँ तक लिखता है कि "कई बार जब वह किसी रोगी में कौतुकोत्पादक लक्षण पाता था तो वह रात रात भर रोगी के पास बैठा, रोगी की दशा देखा करता था।" अपनी विद्वत्तापूर्ण शैली में एलफिन्स्टन ने तुग़लक के गुणों का यों वर्णन किया है—"इस बात पर कभी भी दो मत नहीं हो सकते हैं कि अपने काल का वह सबसे अधिक वाक्पटु, विद्वान् तथा चतुर सम्राट् था। उसकी मृत्यु के अनन्तर भी, फारसी तथा अरबी भाषाओं में लिखे गये, उसके पत्रों की शैली की प्रशंसा की जाती थी। उसकी स्मरणशक्ति आश्चर्यजनक थी। यूनानियों के दर्शन तथा तर्कशास्त्र में भी वह निपुण था। विशेष विशेष रोगों के प्रभाव आदि को देखने के लिए वह रोगियों के पास बैठा रहता था। प्रतिदिन नियत समय पर प्रार्थना किया करता था, और अपने जीवन में धर्म द्वारा निर्धारित सर्व प्रकार के नियमों का पूर्ण पालन करता था। युद्धक्षेत्र में वह बहुत ही चपल तथा शूर था, और बड़ी वीरता के साथ युद्ध करता था। इन्हीं कारणों से उसके समकालीन पुरुष उसे अपने काल का एक महान्, आश्चर्यजनक पुरुष समझते थे।"[१]

---

१. एलफिन्स्टनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, पृष्ठ ३९५।

मुहम्मद धर्मशास्त्र में पारंगत था, धर्म-विषयक बातों में उसका दृष्टिकोण विशाल था। धर्म-विद्वेष तथा धार्मिक असहिष्णुता नाम-मात्र को भी उसमें नहीं पाई जाती थी। वह एक महान योद्धा, कुशल सेनापति तथा चतुर सेना-संचालक भी था। विद्वत्ता तथा ज्ञान से सींचा हुआ मुहम्मद का मस्तिष्क, राजनैतिक गुत्थियों तथा महान् प्रश्नों को बड़ी ही सरलतापूर्वक सुलझा लेता था; और कई पुराने प्रश्नों को सुलझाने में वह सरल, किन्तु नवीन तथा अद्भुत रीति का प्रयोग करता था। प्रत्येक प्रश्न को हल करने में मुहम्मद उसके सभी पहलुओं पर विचार करता था, तथा छोटी छोटी बातों को भी नहीं छोड़ता था।

उपरोक्त गुणों के साथ ही साथ मुहम्मद में दो ऐसी विशेषताएँ थीं जो उसे प्रजा का सच्चा हितैषी बनाती थीं। इन्हीं दो गुणों के कारण वह अपने महान् कार्य के उपयुक्त हो सका।

किन किन गुणों ने उसे एक प्रजाहितैषी सम्राट् बनाया ?

मुहम्मद का हृदय बहुत ही कोमल था, प्रजा के दुख के साथ ही वह पिघलता था। मुहम्मद के लिए दारिद्र्य का नग्ननृत्य केवल एक देखने की ही वस्तु न थी। उसे मालूम था कि साधारण पुरुष की क्या दशा होती है, उनका जीवन कितना करुणापूर्ण तथा हृदयद्रावक होता है। दारिद्र्य की भीषणता का मुहम्मद के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता था। अत्याचारों का पीड़ित प्रजा पर क्या प्रभाव पड़ता है, इससे भी वह अनभिज्ञ न था। साथ ही यह कह देना भी उचित है कि कर्तव्य के समय मुहम्मद कठोर से कठोर

हो जाता था। उस समय वह किसी भी बात का विचार न कर अपने कर्तव्य को पूर्ण करने में ही लग जाता था। प्रायः यह कहा जाता है कि सम्राट् ख़ून का प्यासा था, रुधिर की नदियाँ बहाने तथा निरन्तर मृत्यु-दण्ड देने में उसे आनन्द आता था। इब्नबतूता ने लिखा है कि "मुहम्मद को दो बातों का बहुत शौक़ है, एक तो उपहार देने का तथा रुधिर बहाने का।"[1] बरानी ने तो मुहम्मद-द्वारा मनुष्यों के शिकार का विशद वर्णन किया है[2], और आधुनिक लेखकों ने उसके कथन को बिना किसी भी प्रकार की शङ्का किये, अक्षरशः सत्य मान लिया है। अपने पारस्परिक सम्बन्ध के कारण तथा मुहम्मद के पक्षपात-रहित न्याय के कठोर थपेड़े खाकर उपरोक्त दोनों इतिहासकारों ने सत्य को तोड़-मरोड़ कर ऐसे स्वरूप में रखा है कि पाठक उस कथन को अक्षरशः सत्य मान कर मुहम्मद को एक निर्दयी तथा रक्तपिपासु शासक मान लेते हैं। पाठक-गण इस बात को जानने की इच्छा नहीं करते कि मुहम्मद किनके रक्त का प्यासा था। सम्राट् मुहम्मद, अपनी आज्ञाओं के उल्लंघनकर्ताओं, षड्यन्त्रकारियों तथा अपने विरोधियों को दबाता था, और आवश्यकतानुसार उन्हें दण्ड देता था। प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद स्वयं लिखते हैं कि—इब्नबतूता के भ्रमण-वृत्तान्त को ध्यानपूर्वक पढ़ा जावे तो यह स्पष्ट मालूम हो जावेगा कि जिन पुरुषों को कठोर दण्ड दिये गये वे धर्माधिकारी-वर्ग के थे, जो अपने अधिकारों के लिए सर्वदा व्यग्र रहते

---

१ ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ ६११। इब्नबतूता के भ्रमण-वृत्तान्तः—पेरिस संस्करण, खण्ड ३ पृष्ठ २१६-७।

२ ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३ पृष्ठ २४२।

थे, तथा जो चिरकाल-भुक्त अधिकारों के आधार पर विशेष बर्ताव के लिए सर्वदा शोर मचाया करते थे।"[1] मुहम्मद उन ग़रीबों के ख़ून का प्यासा नहीं था, जिनके लिए उदरपूर्ति एक कठिन समस्या थी, और जो साम्राज्य के अन्तर्गत शान्तिपूर्वक रहते थे, और शासक की आज्ञा का पालन करते थे।

मुहम्मद की दूसरी विशेपता उसकी न्याय-प्रियता थी। उसे न्याय और अन्याय का बहुत विचार था। वह सर्वदा इसी विचार में रहता था कि किसी भी प्रकार उसके हाथों अन्याय न हो। इसी कारण यद्यपि स्वयं इस कठोर न्याय-प्रियता के फलस्वरूप कई दिन तक क़ैद भुगत चुका था[2] फिर भी इब्नबतूता यह लिखे बिना नहीं रह सका कि "मनुष्यों में सम्राट् सबसे अधिक न्यायप्रिय है।"[3] इसी विशेपता के कारण मुहम्मद प्रत्येक कार्य बहुत सोचविचार कर करता था। एक बार अपना पथ निश्चित करने के अनन्तर, जहाँ तक उसे यह मालूम नहीं होता कि अपनी नीति में परिवर्तन न करने से प्रजा को बहुत हानि सहना पड़ेगी, वहाँ तक वह उस पथ से टलता न था। यह न्यायप्रिय सम्राट् न्याय के लिए सब कुछ सहने को तैयार था। इसी न्याय-भावना के ही कारण मुहम्मद ने सैयदों को भी दण्ड, तथा मुसलमानों

---

१ ईश्वरीप्रसादः—मेडियावल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २३१। फुटनोट नं० २.

२ ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ ५८६-७.

३ ईश्वरीप्रसादः—मेडियावल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४२।

को मृत्युदण्ड दिया, जिससे उसे अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में बहुत कष्ट उठाना पड़ा। किन्तु क्या विपत्तियाँ उसे न्यायपथ से भ्रष्ट कर सकती थीं ?

उन्नति-शील स्वच्छन्द शासक मुहम्मद तुग़लक। अन्य महान् सम्राटों में तथा मुहम्मद में विभिन्नताएँ।

इन गुणों तथा विशेषताओं के ही फलस्वरूप मुहम्मद अपने महान् कर्तव्य का सामना करने, तथा उसे बहुत कुछ कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न कर सका। इस कथन में अत्युक्ति नहीं होगी कि भारतीय मुसलमान सम्राटों में मुहम्मद के अतिरिक्त कोई भी दूसरा सम्राट् ऐसा नहीं था जो नवीन नीति का पूर्णतया पालन कर सके तथा जो अलाउद्दीन की नीति को पूर्ण विकसित स्वरूप प्रदान कर सके। सम्राट् मुहम्मद की विद्वत्ता उसे यह बताती थी कि सम्राट् के उच्च पद पर आरूढ़ होने पर उसका क्या कर्तव्य था। सम्राट् ने बड़े बड़े विद्वानों की पुस्तकों का अध्ययन किया था, कुरान पर लिखी गई भिन्न भिन्न टीकाओं का उसे पूर्ण ज्ञान था, हिदाया तो कंठाग्र ही थी। मुहम्मद स्वयं धार्मिक था, परन्तु उसका मस्तिष्क ज्ञान से सींचा हुआ था, अतः उसका दृष्टिकोण विशाल था। मुहम्मद के धार्मिक भाव उसे यह बताते थे कि स्वधर्म में रत रहना उचित है, किन्तु अपना धर्म दूसरों से बलपूर्वक ग्रहण करवाना उचित नहीं; इसी कारण मुहम्मद के शासनकाल में धार्मिक अत्याचारों का पता नहीं लगता। इसी बात में मुहम्मद तथा औरंगज़ेब में विभिन्नता पाई जाती है। दोनों ही विद्वान् थे, किन्तु जहाँ एक का दृष्टिकोण संकीर्ण था, वहाँ दूसरे का हृदय बहुत ही विशाल

था। मुहम्मद जानता था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म कितना प्यारा होता है और अपने धार्मिक विचारों पर किंचित्-मात्र भी आघात होने से मानव-हृदय कितना दुखी होता है। अतः अपनी कल्पना-शक्ति की सहायता से वह जान सकता था कि धार्मिक अत्याचारों का क्या प्रभाव पड़ता था। इसी बात में हम अकबर तथा मुहम्मद में विभिन्नता पाते हैं। दोनों ही सम्राटों की नीति में सहनशीलता पाई जाती है, किन्तु अकबर के शासनकाल के अन्तिम दिनों में हम मुसलमानों के प्रति असहिष्णुता के वर्ताव की झलक पाते हैं। अकबर ने अपने विश्व-प्रेम के सरल किन्तु विशाल नियमों को मुसलमानों-द्वारा बलपूर्वक अंगीकार करवाने का प्रयत्न किया, किन्तु मुहम्मद ने अपने सारे शासनकाल में धार्मिक बातों में पूर्ण समभाव प्रदर्शित किया। मुहम्मद की नीति सर्वदा यही रही कि मुसलमान अधिक धार्मिक बनें। अकबर तथा मुहम्मद दोनों की इस सहिष्णु नीति के विरुद्ध पूर्ण प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई, किन्तु मुहम्मद की नीति के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई वह राजनैतिक प्रतिक्रिया थी, इसके विपरीत अकबर की नीति के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई वह धार्मिक प्रतिक्रिया थी।

मुहम्मद ने इतिहास तथा प्राचीन महान् सम्राटों की जीवनियों का पूर्ण अध्ययन किया था, अतः वह जानता था कि उसे किस नीति का पालन करना चाहिए। भारतीय परिस्थिति का उसे पूर्ण ज्ञान था, और अपने अनुभव तथा राजनीति के पूर्ण अध्ययन के कारण उसको यह मालूम हो गया था कि अलाउद्दीन की नीति से क्या क्या लाभ हुए और जो कार्य अलाउद्दीन ने किये उनमें क्या क्या गुण थे।

पुनः विद्वत्ता से पूर्ण, सुशिक्षित, सुसंस्कृत मुहम्मद का मस्तिष्क मौलिकता से पूर्ण था। ज्ञान तथा अध्ययन से वह सींचा गया था। मुहम्मद इस बात पर निरन्तर विचार किया करता था कि क्योंकर वह अपना कार्य कर सकेगा। साम्राज्य की भूतपूर्व दशा पर विचार कर भारतीय प्राचीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त करके, और तत्कालीन परिस्थिति का अध्ययन कर मुहम्मद ने कई ऐसे प्रश्न ढूँढ़ निकाले, जिनको किसी भी शासक ने हाथ में नहीं लिया था। पुराने प्रश्नों को हल करने में भी मुहम्मद ने नई नई रीतियाँ सोच निकालीं, जिनसे वे प्रश्न अधिक सरलतापूर्वक हल हो सकें।

पूर्ण विचार के अनन्तर हम इसी परिणाम को पहुँचते हैं कि पूर्व मध्य-कालीन भारत में ही नहीं भारतीय मुसलमान सम्राटों में मुहम्मद के अतिरिक्त दूसरा कोई भी सम्राट् अलाउद्दीन के असमाप्त कार्य को पूर्ण करने योग्य नहीं दिखाई पड़ता। अपने विशिष्ट गुणों के कारण ही वह इस कार्य के उपयुक्त था। अकबर और औरङ्गज़ेब में कई ऐसी त्रुटियाँ थीं, जिसके कारण वे इस महान् सम्राट् की समता नहीं कर सकते। अकबर स्वयं अपठित था, और यद्यपि उसके समय तक भारतीय राजनैतिक अवस्था बहुत कुछ बदल गई थी, किन्तु उसके धार्मिक विचारों में निरन्तर परिवर्तन होने के कारण ही साम्राज्य की नीति भी बदलती गई और इन परिवर्तनों के कारण जब इस्लाम-धर्म को ठेस लगी तो अकबर के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई और इसी प्रतिक्रिया का अन्तिम स्वरूप औरङ्गज़ेब की नीति में प्रकट हुआ। औरंगज़ेब विद्वान् और धार्मिक था, फिर भी जैसा कि

ऊपर कहा जा चुका है उसका दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण था। अतः यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह कभी भी धार्मिक विचारों के प्रभावों से मुक्त रह सकेगा। शेरशाह सूर का जो कुछ थोड़ा सा भी ठीक ठीक इतिहास लिखा गया है, उससे यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि यह सम्राट् कई अंशों में अकबर तथा औरंगज़ेब से भी महान् था। फिर भी कई विषयों में शेरशाह ने कुछ भीरुता का परिचय दिया। यद्यपि प्रोफ़ेसर क़ानूनगो के शब्दों में "शेरशाह में इतनी दृढ़ता अवश्य थी कि उसने मुस्लिम धर्मशास्त्र के कई ऐसे नियमों को बदल दिया जो उसके विचारानुसार हिन्दुओं के लिए कठोर तथा अनुचित थे",[१] फिर भी शेरशाह का जजिया कर का बन्द न करना—चाहे वह राजनैतिक विचारों से ही क्यों न हो[२]—उसे मुहम्मद की समता नहीं करने देता।

मुहम्मद के सम्मुख पाँच महान् राजनैतिक प्रश्न।

सन् १३२५ ई० में जब मुहम्मद गद्दी पर बैठा तो उसने देखा कि उसके सम्मुख पाँच महान् प्रश्न समुपस्थित थे। ये पाँचों प्रश्न बड़े महत्त्व के थे।

पहला महान् प्रश्न, साम्राज्य को सुसंगठित करके समस्त साम्राज्य को सुदृढ़ बना कर भारतीय साम्राज्य को राजनैतिक एकता प्रदान करना था। विशेषतया सद्यः

---

१. क़ानूनगोः शेरशाहः—पृष्ठ ४१८.

२. क़ानूनगोः शेरशाहः—पृष्ठ ४१७.

जीते हुए दक्षिणी भारत को पूर्णतया देहली सम्राट् की सत्ता के अधीन करना एक महान् कार्य था।

(१) साम्राज्य को राजनैतिक एकता प्रदान करना, तथा उसे सुदृढ़ बनाना।

अलाउद्दीन के शासन-काल में यद्यपि दक्षिणी भारत पर कई आक्रमण हुए थे, मलिक क़ाफ़ूर ने कई राज्यों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, कितने ही राजाओं से अधीनता स्वीकार करवा ली थी, किन्तु "इस नवीन सभ्यता को दक्षिण-वासियों ने अनिच्छा के साथ अंगीकार किया, जिससे उनके हृदय में मुसलमानों के प्रति असन्तोष बढ़ गया, और जिन हिन्दू नरेशों की स्वतन्त्रता मुसलमानों ने हर ली थी, वे उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे, जब वे पुनः स्वतन्त्र हो सकेंगे।"[१] क़ाफ़ूर के आक्रमणों का नैतिक दृष्टि से भी अधिक प्रभाव न पड़ा। नर्मदा से दक्षिण के देशों में देवगिरी के यादव राजाओं के अतिरिक्त अन्य किसी देश के शासक नियतरूप से कर नहीं देते थे। जब कभी आक्रमण होता था, तभी वे कर देते थे वर्ना नहीं। अतः अलाउद्दीन के पश्चात् उसके निर्बल तथा निकम्मे उत्तराधिकारियों के शासनकाल में दक्षिण में मुसलमानों का जो कुछ भी प्रभाव था, वह भी लुप्त हो गया। इसी कारण सन् १३२२-२३ ई० में मुस्लिम साम्राज्य के विरुद्ध वारंगल में विद्रोह उठ खड़ा हुआ, और मुहम्मद को ही, जो उस समय शाहज़ादा था, यह विद्रोह शान्त करने के लिए जाना पड़ा था। उस समय मुहम्मद ने काकतेय राजाओं

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २१२।

को दवा दिया था। इससे "उनकी शक्ति तथा गौरव नष्ट हो चुके थे, और उनकी गणना अब शक्तिशाली शासकों में नहीं होती थी"[१] फिर भी यह कहना अत्युक्ति होगी कि यह घराना नष्ट हो गया था। काकतेय घराने के अतिरिक्त दूसरे भी कई शक्तिशाली हिन्दू घराने, सुदूर दक्षिण में स्थित थे। इन्हें दवाकर, दक्षिण में मुस्लिम साम्राज्य सुदृढ़ करना अत्यावश्यक था। पुनः दक्षिणी प्रान्तों के सुशासन के लिए उत्तरीय शासन-पद्धति का प्रयोग करना, तथा सारे देश को मुस्लिम शासकों के पूर्ण अधिकार में करना कोई सरल वात न थी। उत्तरीय भारत में समय समय पर होनेवाले विद्रोहों को दवाना, तथा समस्त भारत को एकता प्रदान करना मुहम्मद का एक विशेष उद्देश्य था।

(२) आन्तरिक तथा वाह्य व्यापार-वृद्धि।

दूसरा महान् प्रश्न साम्राज्य के आन्तरिक तथा वाह्य व्यापार को वढ़ाना था। इनकी वृद्धि से ही देश समृद्ध-शाली हो सकता था। देश को समृद्धिशाली बनाना, निवासियों को व्यापार करने के लिए उत्तेजित करना, ही प्रत्येक सुशासक का कर्तव्य माना गया है। किन्तु यह सारी वात मुद्रा के प्रश्न को हल करने से ही हो सकती थी। देश में समान तथा सुमुद्राओं का प्रचार अत्यावश्यक था, क्योंकि इसके विना, आन्तरिक व्यापार की वृद्धि होना कठिन था। पुनः जो देश सद्यः जीते गये थे, उनका उत्तरीय भारत से पूर्ण व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित नहीं

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २२५।

हुआ था। बङ्गाल तथा दक्षिणी प्रायद्वीप का उत्तरी भारत के साथ बहुत ही कम व्यापार होता था। बाह्य व्यापार के केन्द्रों का आन्तरिक केन्द्रों के साथ बहुत ही कम लगाव होने के कारण बाह्य व्यापार से समस्त भारत को कोई लाभ नहीं होता था। भारत के भिन्न भिन्न व्यापारिक केन्द्रों में सम्बन्ध स्थापित करना, तथा मुद्रा को सुव्यवस्थित करके व्यापार को बढ़ाना, मुहम्मद का दूसरा प्रधान उद्देश्य था। इन आर्थिक समस्याओं को हल करना सरल बात न थी।

(३) उत्तर-पश्चिमीय सीमा को सुदृढ़ बनाना।

भारत को उत्तर-पश्चिमी दशा से होनेवाले निरन्तर बाह्य आक्रमणों को सफलतापूर्वक रोकना तथा उस ओर के सीमान्त प्रदेशों को आक्रमणों के भीषण प्रभाव से सुरक्षित बनाना तीसरी समस्या थी। भारतीय मुस्लिम साम्राज्य की सीमा उस समय केवल पंजाब के मैदानों तक ही परिमित थी। पञ्जाब के समतल मैदानों में सीमा से लेकर देहली तक बलबन तथा अलाउद्दीन ने कई एक क़िले बनवाये थे, जिनसे आक्रमण-कारियों को सारे रास्ते लड़ना पड़े और इस प्रकार उनको मार्ग में ही रोक सकें। किन्तु युद्ध-शास्त्र (military science) की दृष्टि से साम्राज्य की सेना का मैदान में, पहाड़ी के तले लड़ना, साम्राज्य की सेना के लिए बहुत ही हानिकारक था। ऊपर पहाड़ों से उतरनेवालों के अधिकार में समस्त पहाड़ तथा घाटियाँ होती थीं। क्या किसी प्रकार यह त्रुटि दूर की जा सकती थी? क्योंकर इन आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया जा सकता था?

मुहम्मद की नीति का चौथा और सबसे प्रधान उद्देश्य साम्राज्य की नीति को धार्मिक विचारों के प्रभाव से छुड़ाना था। इस बात का पहिले ही उल्लेख किया जा चुका है कि यह उन्नतिशील नीति का एक प्रधान अंग था, साथ ही साथ यह एक अतीव कठिन कार्य भी था। अलाउद्दीन ने इस उद्देश्य को कार्यरूप में परिणत करने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किये थे, किन्तु मुहम्मद की दृष्टि में ये प्रयत्न प्रारम्भ-मात्र थे। नवीन नीति को कार्यरूप में परिणत करने से पहिले, कई एक आवश्यक सुधारों की आवश्यकता थी। न्याय-शासन-विभाग के संगठन की ओर अलाउद्दीन ने ध्यान नहीं दिया था। हिन्दुओं के प्रति क्या नीति होना चाहिए, इस विषय पर मुहम्मद का अलाउद्दीन से बहुत मतभेद था।

(४) धर्म तथा राजनीति का विच्छेद।

मुहम्मद को मालूम था कि इस उद्देश्य को कार्यरूप में परिणत करने में, तथा नवीन नीति के अनुसार समस्त राज्य की शासन-पद्धति को ढालने में उसकी धर्माधिकारियों के साथ मुठभेड़ होना अवश्यम्भावी था। मुहम्मद की योग्यता, उसकी दृढ़ता, राजनीतिज्ञता, अपने आदर्शों पर अटल रहना, आदि सब गुणों की परीक्षा इसी कसौटी पर कसे जाने से ही हो सकती थी।

अन्तिम प्रश्न जिस ओर मुहम्मद का ध्यान गया, वह था साम्राज्य के आदर्शों का विकास। प्रजा के लाभ के लिए तथा सुख के लिए भिन्न भिन्न कार्यों को करना, उन्हें साम्राज्य के शासन के प्रधान उद्देश्यों में स्थान देना, यही मुहम्मद

(५) साम्राज्य के उद्देशों का विकास।

का उद्देश्य था। इन नवीन उद्देश्यों को सम्राट् अपना कर्तव्य समझ ले। धार्मिक सुधार करना, विद्या-प्रचार करना, अस्पताल खोल कर पीड़ितों के दुख-दर्द को दूर करना, अकाल के दुष्परिणामों के बुरे प्रभाव को घटाना, दरिद्रियों के प्रति दया दिखाना, मुहम्मद इन सब बातों को साम्राज्य की नीति में स्थान देना चाहता था। अला-उद्दीन ने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था।

इन पाँचों प्रश्नों को हल करना मुहम्मद के शासनकाल का प्रधान उद्देश्य था। इनको हल करने में ही मुहम्मद का सारा शासनकाल बीता। एक एक प्रश्न दुरूह समस्या थी। प्रत्येक को हल करने के लिए बड़े बड़े विद्वानों को सिर पचाना पड़ता। ये प्रश्न इतने भिन्न भिन्न विषयक तथा कठिन थे कि उनको हल करने की रीति सोचना, उन सब पर विचार करना, कोई सरल काम नहीं था। किन्तु वह अकेला सम्राट् इन सब प्रश्नों पर विचार करने बैठा। कितना महान् साहस था! किन्तु क्या यह दुस्साहस था? इतिहास के पृष्ठों में अङ्कित प्रत्येक प्रश्न को हल करने के मुहम्मद के प्रयत्न ही इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं।

मुहम्मद का साहस।

अपने उद्यम, साहस तथा अथक शक्ति के साथ मुहम्मद इन प्रश्नों को हल करने बैठा। यह स्फूर्ति, यह शक्ति, उसके सारे शासनकाल में, उसकी सारी नीति में पाई जाती है। उसके सारे जीवन में कोई ऐसा समय नहीं था, जब हुमायूँ के समान कुछ काल के लिए ऐश्वर्यविलास में गोता लगाने तथा सुख उठाने के लिए उसने राज्यकार्य से मुख

मोड़ा हो। अपने २५ वर्ष के घोर परिश्रमपूर्ण शासनकाल के बाद भी बीमार, रोग-शय्या पर पड़ा, उसी साहस तथा वेग के साथ विद्रोहियों का पीछा कर रहा था और उसी लगन के साथ शासन के समस्त कार्यों में लगा हुआ था।

परन्तु अकेला सम्राट् ही सारे साम्राज्य का शासन बिना किसी सहायता के नहीं कर सकता था। अपनी सहायता के लिए, उसे कई एक पदाधिकारियों की आवश्यकता थी। किस प्रकार के पदाधिकारियों की, किन पुरुषों की सहायता से, सम्राट् इन प्रश्नों को हल करेगा तथा अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करेगा यह बात बड़े महत्त्व की थी। शासक की नीति कैसी ही ठीक तथा उचित क्यों न हो, किन्तु जहाँ तक शासक के सहायक, कर्मचारी उस नीति को उचितरूपेण कार्यरूप में परिणत न करें, तहाँ तक उस नीति का सफल होना कठिन होता है। कर्मचारियों का शासक के प्रति विश्वासघात, तथा शासक की नीति को कार्यरूप में परिणत करने में कर्मचारियों द्वारा किये गये मनमाने अत्याचार, कठोरता, तथा स्वार्थसिद्धि की इच्छा से किये गये कई अनुचित कार्य ही कई बार शासक की नीति को असफल करने में समर्थ हुए हैं। मुहम्मद की नीति की सफलता तथा विफलता भी, कर्मचारियों की योग्यता तथा शासक के प्रति उनकी पूर्ण सहानुभूति के होने या न होने पर ही निर्भर थी। अतः ऐसे कर्मचारियों की बड़ी आवश्यकता

सुयोग्य कर्मचारियों की आवश्यकता।

थी जो चतुर तथा योग्य ही नहीं हों, किन्तु जिन्हें शासनकार्य का बहुत कुछ अनुभव भी हो। मुहम्मद के समय में यह आवश्यकता पूर्णरूपेण प्रतीत हुई क्योंकि इस समय बड़े महत्त्व के प्रश्नों को हल करना था और ऐसे समय साधारण योग्यता के कर्मचारियों ही से काम नहीं चल सकता था।

क्योंकर यह कमी पूरी की गई ?

अलाउद्दीन के समय के बड़े बड़े सुयोग्य कर्मचारी अब तक मर चुके थे, या मलिक काफ़ूर आदि के हाथों परमधाम पहुँच गये थे। रहे-सहे इतने बूढ़े हो गये थे कि उनमें पुनः शासन-भार उठाने की योग्यता न रही थी। अलाउद्दीन के निर्बल उत्तराधिकारियों के समय में कोई भी कर्मचारी इस योग्य नहीं बने कि वे किसी भी तरह मुहम्मद को उसके शासन के प्रारम्भ में ही सहायता दे सकें। इस कारण मुहम्मद ने देखा कि तत्कालीन कर्मचारीवर्ग से ही काम नहीं चल सकता था। यह कमी क्योंकर पूर्ण की जा सकती थी? या तो भारत की ही दूसरी कक्षाओं में से योग्य व्यक्ति ढूँढ़ निकाले जावें या विदेशों से सुयोग्य कर्मचारियों को बुलाने का प्रबन्ध किया जावे। विदेशी कर्मचारियों के भारत में आने की सम्भावना तभी हो सकती थी, जब उन्हें भारत में अधिक धनप्राप्ति की आशा हो। सम्राट् मुहम्मद ने दोनों पथों का अनुसरण किया। भारत के कई छुपे गुदड़ी के लाल ढूँढ़ निकाले गये। कर्मचारीवर्ग के अतिरिक्त अन्य कक्षाओं में से भी कई सुयोग्य व्यक्तियों से उसने कर्मचारी-विभाग की पूर्ति की। विदेशों और विशेषतया फ़ारस से कई विद्वानों और

धुरन्धर राजनीतिज्ञों को बुलाया। अन्य विद्वानों आदि को भारत में आकर्षित करने के लिए, उसने विदेशीय विद्वानों के प्रति बहुत उदारता दिखाई, तथा उनमें से जिन्हें योग्य देखा उन्हें उच्च पद दिये। मूरदेश का यात्री, इब्न-बतूता, इसका एक विशिष्ट उदाहरण है।

प्राचीन कर्मचारीवर्ग में असन्तोष।

किन्तु मुहम्मद की इस नीति से प्राचीन कर्मचारीवर्ग सम्राट् के प्रति असन्तुष्ट हो गया। ये कर्मचारी, अपनी सत्ता का, अपनी कक्षा से इतर व्यक्तियों को उपभोग करते देखकर मुहम्मद के विरुद्ध उठ खड़े हुए। असन्तोष की यह उठती हुई ज्वाला, एन-उल-मुल्क के विद्रोह के स्वरूप में प्रकट हुई[1]।

ऐसी दशा में सम्राट् का क्या कर्त्तव्य था? उसके लिए केवल दो ही राहें थीं। या तो इन असन्तुष्ट पुरुषों का सामना करे, या इस असन्तोष के मूल-कारण को नष्ट कर दे, और शासन-विभाग में किये गये सारे सुधारों तथा सारे संगठन को तोड़ कर, साम्राज्य के पतन को अवश्यम्भवी बनावे। इस समय साम्राज्य इतना विशाल होगया था, कि योग्य, सशक्त कर्मचारियों के हाथों में ही रह कर इसका चलना सम्भव था। सम्राट् को यह भी पता था कि अयोग्य पुरुषों के हाथों में पड़ कर साम्राज्य का पतन कितना शीघ्र होगा, तथा उसका क्या परिणाम होगा। अव्यस्त, विभक्त साम्राज्य में अराजकता का दौरदौरा होगा और सारी प्रजा को अगण्य विपत्तियाँ और असहनीय यातनाएँ सहना पड़ेंगी। मुहम्मद ने देखा कि प्रथम मार्ग को ग्रहण करने से उसे स्वयं बहुत कुछ असुविधा होगी, किन्तु

---

१ मुहम्मद तुग़लक पर गार्डनर ब्राउन के लेख को देखो।

यदि इस असुविधा या कर्मचारियों के इस विरोध से डर कर वह दूसरे मार्ग को ग्रहण करे तो निस्सहाय दरिद्री पुरुषों को, शासक की भीरुता का कटु-फल भोगना पड़ेगा।

ऐसी दशा में जो कार्य एक प्रजाहितैषी शासक करेगा, वही मुहम्मद ने भी किया। दूसरे मार्ग को ग्रहण करने के फलस्वरूप अपनी प्रजा को जिन असह्य दुःखों को सहन करना पड़ेगा, उनके विचार-मात्र से ही मुहम्मद का हृदय विचलित हो गया। यद्यपि सम्राट् को यह मालूम था कि प्रथम मार्ग का अवलम्बन करने से शासक के विरुद्ध विरोध उठेगा, किन्तु अपने विरुद्ध प्रतिरोध का अन्त करने के लिए वह अपनी प्यारी प्रजा को दुःखसागर में डुबोने के लिए तैयार न था। साम्राज्य के हितार्थ तथा अपनी प्रजा के सुखार्थ, मुहम्मद ने अपने सुख की बलि दे दी, और अद्वितीय साहस के साथ उसने प्रथम मार्ग का अवलम्बन किया। अन्य कारणों के साथ ही साथ यह निश्चय भी मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल के अन्तिम दिवसों में होनेवाले निरन्तर विद्रोहों का एक प्रधान कारण था।

मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल पर विचार करते समय ध्यान में रखने योग्य दो बातें।

मुहम्मद तुग़लक की नीति आदि पर विचार करने से पहिले हमें दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए। प्रथम तो यह कि प्रत्येक घटना पर पक्षपातरहित रीति से विचार किया जाय। इस महान् किन्तु अभागे सम्राट् के शासन पर पक्षपात-रहित विचार करना कठिन है। उत्तर मध्य-कालीन भारतीय इतिहास में जो दशा शेरशाह के शासनकाल की हुई

वही हाल पूर्व मध्य-कालीन भारतीय इतिहास में मुहम्मद के शासनकाल का हुआ। इन दोनों शासकों के शासन के अन्त होने पर कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनके फल-स्वरूप इतिहासकारों का दृष्टिकोण उलट गया, या राजनैतिक परिस्थिति के उपयुक्त बनने के लिए इतिहास-लेखन में अपने दृष्टिकोण को बदलना पड़ा। इस कारण इन शासकों के शासन की किसी भी घटना पर तथा उस सम्राट्-विषयक उनकी राय पर पूर्णतया विचार करने से पहिले यह प्रश्न अवश्य कर लेना चाहिए कि "कहाँ तक इतिहासकार का यह कथन पक्षपात-रहित है?" "कहाँ तक इतिहासकार मुहम्मद के कार्यों आदि के कारण ठीक ठीक बता रहा है?" इस बात की विशेष आवश्यकता इस कारण होती है कि ज़ियाउद्दीन बरानी ने मुहम्मद के शासनकाल के इतिहास को बुरा बताने का प्रयत्न किया। बरानी स्वयं धर्माधिकारीवर्ग का था, और दोआब का रहनेवाला था, अत: जब दोआब का लगान बढ़ाया गया, तब बरानी को भी उसके परिणाम भुगतने पड़े थे। इसी कारण गार्डनर ब्राउन के कथनानुसार—"यदि हम बरानी-लिखित वर्णन को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो हमें यह देखकर बहुत आश्चर्य होगा कि सारे वर्णन में मुहम्मद के प्रति वैरभाव का सोता पूर्ण वेग के साथ बहता है। यह वैरभाव तीन बातों में समानतया दिखाई पड़ता है, कई बातें बरानी जान बूझकर छोड़ देता है, कई बातों का इस तरह से वर्णन करता है कि उनसे बिलकुल उलटा असर हो, तथा कई बातों को छिपाता और उसे कलंकित करने का प्रयत्न करता है।"[1] इब्नबतूता

१ गार्डनर ब्राउन के 'मुहम्मद तुग़लक़" लेख से उद्धृत।

के वर्णन में भी कई स्थानों पर वैरभाव दिखाई पड़ता है। अतः जो इतिहास उपरोक्त ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये हैं और जिन इतिहासकारों ने बरानी आदि के कथन की छान-बीन करने का परिश्रम नहीं उठाया है, उनके ग्रन्थों में मुहम्मद की भरसक बुराई की गई है। किन्तु पक्षपातरहित पाठक तथा इतिहासकार के लिए यह अत्यावश्यक है कि किसी भी बात पर विश्वास करने से पहिले, सारी छान-बीन कर ले।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि इस सम्राट् के शासन-काल की घटनाएँ प्रायः संवतवार-क्रम से वर्णित की जाती हैं। बरानी ने इस पद्धति को ग्रहण नहीं किया, किन्तु उसने जिस रीति से तथा जिस क्रम से मुहम्मद के शासनकाल की घटनाओं का वर्णन किया है, उससे यही प्रतीत होता है कि "लेखक किसी पूर्व निर्धारित सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए प्रबन्ध बाँध रहा है।"[१]

बरानी के अतिरिक्त अन्य इतिहासकारों ने प्रायः कालक्रमानुसार घटनाओं का वर्णन करने की ही पद्धति का अनुसरण किया है। किन्तु इस पद्धति से मुहम्मद के काल की भिन्न भिन्न घटनाओं में कोई विशेष सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई होती है। मुहम्मद का मौलिकता तथा नूतनता से पूर्ण मस्तिष्क एक साथ ही कई भिन्न भिन्न प्रश्नों पर विचार करता था, तथा उन्हें पूर्ण करने के लिए कार्य करता जाता था। इसी कारण उसके २५ वर्ष के शासनकाल में भिन्न भिन्न प्रकार

---

१ गार्डनर ब्राउन के "मुहम्मद तुग़लक" लेख से।

की घटनाओं का एक ऐसा जमघट जमा है कि जहाँ तक एक एक करके उन पर विचार न किया जावे और राजनैतिक नीति की भिन्न भिन्न घटनाओं को भिन्न भिन्न सूत्रों में गूथकर उनके सच्चे उद्देश्य, कारण तथा प्रभाव पर विचार न करें वहाँ तक यह विभिन्न घटनाओं का समूह एक अनोखी बात दिखाई देती है। ऐतिहासिक घटनाओं के इस समूह में आन्तरिक एकता न पाकर इतिहास-लेखक या पाठक एक ऐसी भूलभुलैया में पड़ जाता है, जिसमें से निकलना कठिन हो जाता है। मध्यकाल पर लिखनेवाले आधुनिक ग्रन्थकारों ने भी इसी पद्धति को ग्रहण किया है जिसका फल यह हुआ है कि वे भी इसी भूलभुलैया में फँस गये और बुरी तरह फँसे, तथा जब उन्हें उसमें से बाहर निकलने की राह न मिली तो वे कह बैठे कि 'यह शासक तो पागल था, उसके सब कार्य बिगड़े हुए मस्तिष्क की अनोखी, पागलपन से पूर्ण उपजें थी।' किन्तु यदि मुहम्मद के समय की घटनाओं पर ध्यानपूर्वक विचार किया जावे तो यह स्पष्ट है कि भिन्न भिन्न घटनाएँ अपने भिन्न भिन्न उद्देश्यों को एक साथ ही कार्य-रूप में परिणत करने के प्रयत्नों का स्वाभाविक परिणाम थीं। जहाँ तक मुहम्मद की शासन-नीति के भिन्न भिन्न प्रवाहों को स्पष्टतया देखकर, उन पर पूर्णरूपेण विचार नहीं करें वहाँ तक हम प्रत्येक घटना के सच्चे कारण तथा उसके ठीक ठीक परिणाम को नहीं समझ पाते हैं। पुनः जहाँ तक प्रत्येक घटना का, उस विशेष विचारधारा से,—जिसकी कि वह घटना एक विशेष उपज थी—क्या सम्बन्ध है यह नहीं जान पाएँगे, वहाँ तक प्रत्येक घटना के कारण को समझना असम्भव हो

जाता है। कई बार इतिहासकारों ने मुहम्मद के कार्यों के फलस्वरूप कठिनाइयों ही पर विचार किया और उन्हीं के आधार पर सम्राट् की निन्दा की है। ये कठिनाइयाँ तथा हानियाँ प्रत्येक मनुष्य को स्पष्टतया दिखाई देती हैं। पुनः जिन पुरुषों को उन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, वे उनके स्वरूप को बहुत कुछ बढ़ा देते हैं। स्वाधिकारों पर या अपने हितों पर आघात पहुँचने के कारण वे उस कार्यविशेष की निन्दा करते हैं तथा उसके सच्चे उद्देश्यों को समझने का प्रयत्न नहीं करते।

मुहम्मद की नीति के पाँच भिन्न भिन्न प्रवाह।

उपरोक्त कारणों के ही फलस्वरूप, मध्यकालीन इतिहासकार मुहम्मद के कार्यों पर निष्पक्ष रीति से विचार नहीं कर सके; और उन लेखकों के कथन को अक्षरशः सत्य मान कर कई आधुनिक लेखकों ने भी मुहम्मद के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा है। यहाँ हमने इस पद्धति को त्याग कर, सारे शासन की भिन्न भिन्न, यत्र तत्र बिखरी हुई घटनाओं को, पाँच अलग अलग नीति के सूत्रों में गूँथा है। ऊपर हमने जिन पाँच प्रश्नों का उल्लेख किया है, उन्हीं को हल करने के लिए मुहम्मद की नीति पाँच भिन्न भिन्न प्रवाहों में बही है, और यहाँ हमने प्रत्येक प्रवाह पर अलग अलग विचार किया है। ये पाँचों ही प्रश्न बहुत कुछ अलाउद्दीन के समय में भी उपस्थित हुए थे। अतः इससे पहिले कि हम प्रत्येक प्रश्न पर विशद रूप से विचार करें हम मुहम्मद तथा अलाउद्दीन की नीति में जो जो भेद थे, उन पर विचार करेंगे।

हम पिछले अध्याय में यह बता चुके हैं कि अपनी अद्वितीय प्रतिभा तथा बुद्धिमत्ता की सहायता से अलाउद्दीन ने क्योंकर उन्नतिशील नीति का विकास किया। किन्तु फिर भी अलाउद्दीन की नीति में तीन बातों का बहुत अभाव था, जिसको मुहम्मद ने पूर्ण किया।

मुहम्मद तथा अलाउद्दीन की नीति की तुलना।

सर्वप्रथम अलाउद्दीन की नीति में संस्कृति के प्रभाव का बहुत अभाव पाया जाता है। अलाउद्दीन की नीति में कई एक आवश्यक बातों को इसीलिए स्थान नहीं मिल सका, क्योंकि अलाउद्दीन का संस्कृतिरहित मस्तिष्क उनकी ओर आकर्षित नहीं हो सका था। इस अभाव के विषय में हम पहिले बहुत कुछ कह चुके हैं, जिससे हम इस विषय पर यहाँ अधिक नहीं लिखेंगे।

अलाउद्दीन की नीति के दूसरा तथा तीसरा अभाव विशेषतया प्रथम अभाव के ही परिणाम थे। अलाउद्दीन ने अपनी नीति तथा अपने उद्देश्य को परिपूर्ण करने के लिए, जिस मार्ग का अनुसरण किया, उससे यद्यपि इष्ट उद्देश्य बहुत कुछ पूर्ण हुआ, किन्तु उस मार्ग का पूर्णतया समर्थन नहीं किया जा सकता है। अलाउद्दीन एक सैनिक, एक योद्धा था; उसे एक ही सीधा-सादा उपाय मालूम था,—वह था शक्ति का प्रयोग। अतः अलाउद्दीन ने कई स्थानों पर शक्ति का इस प्रकार उपयोग किया जिसका कि समर्थन नहीं किया जा सकता।

अन्त में हमें अलाउद्दीन की नीति में सूक्ष्म बातों का पूर्ण अभाव दिखाई पड़ता है। अलाउद्दीन के असंस्कृत

मस्तिष्क ने नूतन नीति का विशाल ढाँचा खड़ा कर दिया। राजनैतिक बारीकियों तथा शासन-संगठन की छोटी छोटी बातों से उसे सुन्दर बनाना, अलाउद्दीन के लिए एक असम्भव बात थी। इसी कारण अलाउद्दीन ने एक सुदृढ़ बृहद भवन निर्माण किया, किन्तु उसमें कला की बारीकियों का पूर्ण अभाव था।

अलाउद्दीन के समय में यह नीति विकास को प्राप्त हो रही थी, और प्रकृति के नियमानुसार ही विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में छोटी छोटी बारीकियों का नहीं पाया जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। मुहम्मद ने अपने सारे शासनकाल में उपरोक्त तीनों अभावों को ही पूर्ण करने का प्रयत्न किया।

मुहम्मद ने सर्वप्रथम साम्राज्य संगठन की ओर ध्यान दिया। उसने देखा कि मुस्लिम साम्राज्य का संगठन बहुत कुछ शिथिल हो गया था। जो जीवन, जो शक्ति, अलाउद्दीन के समय में साम्राज्य में पाई जाती थी, अब उसका बहुत ही अभाव था। अलाउद्दीन के निर्बल उत्तराधिकारियों के समय में देहली के शासकों की सत्ता बहुत घट गई थी। ग़यासुद्दीन तुग़लक ने यद्यपि कई एक आवश्यकीय परिवर्तन कर दिये थे, किन्तु उसके समय में यह सम्भव न था कि साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों का पूर्णरूपेण संगठन किया जा सके। दक्षिणी देशों में मुस्लिम विजय के अस्थिर प्रभाव से मुहम्मद पूर्णतया परिचित था, अतः साम्राज्य को संगठित करने के लिए मुहम्मद

साम्राज्य-सङ्गठन
(अ) सन् १३२५ ई० में साम्राज की राजनैतिक अवस्था।

को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि दक्षिणी प्रान्तों पर मुसलमानों का अधिकार पूर्णरूप से स्थापित किया जावे तथा उन्हें साम्राज्य का अभिन्न भाग बनादें। कुछ ही काल पहिले किये गये, अपने दक्षिणी आक्रमण के प्रभाव से भी मुहम्मद लाभ उठाना चाहता था।

(घ) राजधानी परिवर्तन। १३२६-७ ई०

उपरोक्त उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए कुछ इने-गिने आक्रमणों से काम नहीं चल सकता था। आवश्यकता इस बात की थी कि दक्षिण भारत में ही किसी दुर्गविशेष को सैनिक केन्द्र बना कर वहाँ से किसी साहसी, अनुभवी और चतुर सेनानायक की अध्यक्षता में सेना की सहायता से जीता हुआ देश पूर्णतया अधिकार में किया जावे, तथा सब विरोधियों को हटा कर उन प्रान्तों में उत्तरीय शासन-पद्धति स्थापित करके समस्त भारत को राजनैतिक एकता प्रदान करे।

बहुत विचार के अनन्तर मुहम्मद ने यह निश्चित किया कि वह स्वयं ही इस सेना का संचालन करे और देवगिरी को सैनिक केन्द्र बनावे। औरंगज़ेब के समान ही दक्षिण भारत को पूर्णतया अधिकार में करने के लिए सम्राट् मुहम्मद भी सन् १३२६ ई० में दिल्ली से निकल पड़ा। उस समय सम्राट् को इस बात का पता नहीं था कि दक्षिण में उसे कितना समय लगेगा; साथ ही वह यह भी चाहता था कि साम्राज्य के अन्य विभागों का कार्य भी अन्य किसी दूसरे पुरुष के हाथ में नहीं छोड़ना पड़े, अतः उसने राज्यकर्म-कारियों को भी साथ चलने की आज्ञा दी। इस प्रकार

कुछ काल के लिए मुहम्मद ने देवगिरि को "दौलताबाद" नाम देकर, अपनी राजधानी बनाया[१]। एक साल बाद जब मुहम्मद का उद्देश्य पूर्ण हो गया तब मुहम्मद पुनः देहली को लौट आया। इस घटना को बरानी ने मुहम्मद के पागलपन की सूझों में दूसरा स्थान दिया है। कुछ बातों को ध्यान में रख लें तो इस घटना में हमें कुछ भी पागलपन नहीं दिखाई देता। प्रथम तो यह कि यह परिवर्तन कुछ काल के लिए ही था, चिरकाल के लिए नहीं। पुनः सम्राट् ने केवल शासन-विभाग को ही देवगिरि जाने के लिए कहा था, सारी प्रजा को आज्ञा न दी थी। तीसरे इस परिवर्तन से कुछ लाभ भी हुए। जैसा कि प्रायः इतिहासकार बताते हैं यह परिवर्तन पूर्णतया असफल नहीं हुआ। बरानी देहली के उजड़ जाने और सुदूर देवगिरि जानेवाले यात्रियों की ही असुविधाओं का वर्णन करता है, और आधुनिक इतिहासकार इन्हीं दो बातों के आधार पर इस परिवर्तन को पागलपन की सूझ बताते हैं। वे इस बात की जाँच करने की परवाह नहीं करते हैं कि इस परिवर्तन का कोई राजनैतिक प्रभाव पड़ा था या नहीं।

दौलताबाद में रह कर मुहम्मद ने दक्षिणी देशों पर मुसलमानों का ऐसा आधिपत्य स्थापित किया कि आगामी कई शताब्दियों तक उन देशों पर से मुसलमानों का प्रभाव

---

१ "मुहम्मद तुग़लक़ का राजधानी परिवर्तन" शीर्षक लेख में मैंने इस विषय पर अधिक विस्तारपूर्वक विचार किया है। "सरस्वती" मई १९२७ पृष्ठ ४९७-९९।

तथा अधिकार नष्ट नहीं हुआ। सन् १३२७ ई० के बाद आगामी दस वर्षों तक इन प्रान्तों में कोई भी विद्रोह नहीं उठा। सन् १३३६ ईसवी में विजयानगर साम्राज्य की नींव पड़ी, किन्तु इसका प्रारम्भ ऐसे प्रदेश में हुआ, जिसे कोई भी मुसलमान सम्राट् अपने हाथ में नहीं ले सका था। सन् १३४५ ई० में साम्राज्य के दक्षिणी प्रान्तों में जो विद्रोह उठा, और उसके परिणाम-स्वरूप बहमनी राज्य की स्थापना हुई, वह उन प्रान्तों के मुस्लिम सूबेदारों तथा शासन के लिए रखे गये कर्मचारियों का ही विद्रोह था। मुहम्मद के राजधानी परिवर्तन के उपरोक्त प्रभाव तथा परिणाम को देख कर हम इसी परिणाम को पहुँचते हैं कि मुहम्मद की नीति सफल हुई तथा राजधानी-परिवर्तन का उद्देश्य पूर्णतया फलप्रद हुआ।

राजधानी-परिवर्तन का राजनैतिक प्रभाव।

मुहम्मद ने साम्राज्य में दूसरे भी कई सुधार किये, जिनसे बहुत लाभ हुआ। कृषि-सुधार की ओर उसने विशेष ध्यान दिया।[1] साम्राज्य के दक्षिणी सूबों का बन्दोबस्त (Revenue Settlement) किया गया। उन देशों को भिन्न भिन्न प्रान्तों में विभक्त कर सारे देश के शासन को सुसंगठित कर डाला[2]। लगान बढ़ाने तथा सेना-

(स) साम्राज्य में अन्य सुधार।

१. ईलियट और डासनः हिस्ट्री आफ़ इण्डिया. खण्ड ३. पृष्ठ २५० तथा २५१.

२. ईलियट और डासनः हिस्ट्री आफ़ इण्डिया. खण्ड ३. पृष्ठ २५१.

वृद्धि के लिए मुहम्मद ने तदबीरें सोचीं तथा उसके लिए विशद व्यवस्था की[1]। शासन-सम्बन्धी समाचार आने जाने के लिए तथा भिन्न भिन्न प्रान्तों का केन्द्रीय शासन के साथ अधिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मुहम्मद ने हलकारों का प्रबन्ध किया[2]। पश्चिमी किनारे पर पीरम और गोगा में समुद्री डाकुओं को नष्ट करके मुहम्मद ने सामुद्रिक व्यापार में उपस्थित होनेवाली बाधाओं का भी अन्त कर डाला[3]।

भारत को आर्थिक एकता प्रदान करने का प्रयत्न।

(अ) इसका महत्त्व।

राजनैतिक एकता प्रदान करके अब भारत को आर्थिक एकता प्रदान करने की मुहम्मद को सूझी। सारे साम्राज्य को राजनैतिक एकता के सूत्र में बाँधना, जितने महत्त्व का था, उससे भी अधिक महत्त्व की बात यह थी कि भारत आर्थिक दृष्टि से एक देश हो जावे। जब से मुहम्मद गद्दी पर बैठा, तभी से उसका ध्यान इस ओर आकर्षित हो गया था। साम्राज्य के व्यापार की वृद्धि से ही देश समृद्धिशाली हो सकता था, और मुहम्मद के विचारानुसार तो देश को सुखी, धन-धान्य-

---

१. ईलियट और डासनः हिस्ट्री आफ़ इण्डिया. खण्ड ३. पृष्ठ २५१.

२. ईलियट और डासनः हिस्ट्री आफ़ इण्डिया. खण्ड ३. पृष्ठ ५८१.

३. गार्डनर ब्राउन के लेख से।
इब्नबतूता के भ्रमण वृत्तान्तः पेरिस संस्करणः भाग ४. पृष्ठ ६०।

पूर्ण समृद्धिशाली बनाना ही शासक का प्रधान कर्तव्य था। वाणिज्य और उद्योग-धन्धों की वृद्धि अनेकानेक कारणों पर निर्भर होती है। मुहम्मद स्वयं अर्थशास्त्र के इन उलझे हुए प्रश्नों से बहुत परिचित था। अतः उसने इस ओर भी पूरा ध्यान दिया।

(ब) मुद्राओं में सुधार।

सारे साम्राज्य में समान तथा शुद्ध मुद्राओं के चलन तथा साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों में आने जाने की सुविधा आदि का प्रबन्ध करना अत्यावश्यक था। मुहम्मद को मुद्रा-सम्बन्धी बातों का पूर्ण ज्ञान था। इस प्रश्न पर उसने बहुत विचार किया था, और मुद्रा आदि के सुधारों की आवश्यकता तथा उनके महत्त्व का उसे पूरा पता था। इसी कारण "मुद्रा-सम्बन्धी सब बातों को मुहम्मद तुग़लक़ इतने महत्त्व की समझता था कि उसने अपने शासनकाल के प्रारम्भ से ही, सारी मुद्रा पद्धति में सुधार किये; भिन्न भिन्न मूल्यवान धातुओं के सापेक्ष्य मूल्य के अनुसार भिन्न भिन्न मुद्राओं की दर निश्चित की और यह प्रयत्न किया कि सहायक मुद्राओं का मूल्य भी इस दर के अनुसार ही हो"।[१] अपने ग्रन्थ "क्रानिकल्ज आफ़ पठान किंग्ज़" में आगे चल कर एडवर्ड टामस ने मुहम्मद के मुद्रा-सम्बन्धी सुधारों तथा उनके पूर्ण महत्त्व का सविस्तार वर्णन किया है। उन सब बातों को यहाँ उद्धृत करने के लिए स्थान नहीं है। किन्तु सुधारों आदि के विवरण को पढ़ कर यह स्पष्टतया दिखाई पड़ता

---

१ टामसः क्रानिकल्ज आफ़ पठान किंग्ज़। पृष्ठ २२३

इब्न बतूता का भ्रमण वृत्तान्तः पेरिस संस्करण, खण्ड ४, पृष्ठ २२४

है कि मुहम्मद को मुद्राशास्त्र (Curency) का बहुत ज्ञान था, और इस समस्या पर उसने बहुत विचार करके तथा भारतोय आर्थिक दशा का अध्ययन करने के अनन्तर ही उसने उपरोक्त सुधार किये थे।

(स) पीतल आदि की सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन।

प्रारम्भिक सुधारों के अनन्तर मुहम्मद ने देखा कि सिन्धु-गंगा के मैदानों का, सद्यः जीते हुए दक्षिणी देशों तथा भौगोलिक दूरी के कारण बंगाल सरीखे देशों के साथ आर्थिक सम्पर्क पैदा होना अत्यावश्यक था। जहाँ तक यह आर्थिक सम्पर्क नहीं पैदा हो सकता था वहाँ तक व्यापार में वृद्धि होना कठिन था। इसी आर्थिक सम्पर्क को स्थापित करने तथा इस प्रकार भारत के आन्तरिक व्यापार की वृद्धि करने के लिए ही मुहम्मद को ताँबे तथा पीतल के सांकेतिक सिक्के (Token coin) चलाने की सूझी।

प्रायः इतिहास-लेखक मुहम्मद के इस कार्य को भी पागलपन की एक सूझ बताते हैं। नहीं जान पड़ता है कि क्योंकर वे इतिहासकार एक ओर यह मानकर कि उस सम्राट् के मुद्रासम्बन्धी सुधार बहुत सोच-विचार के अनन्तर किये गये थे और वे बहुत ही लाभदायक हुए, साथ ही इस कार्य को भी जो मुद्रा-सम्बन्धी हो एक प्रश्न था, पागलपन की सूझ बता कर चित्त को शान्ति कर लेते हैं। उनके सुसंस्कृत मस्तिष्क क्योंकर यह बात मानने को उतारू हो जाते हैं कि "मुद्राशास्त्र में पूर्ण दक्ष तथा पंडित" मुहम्मद को यह भी न सूझी कि इस सांकेतिक मुद्रा के प्रचलन का अन्तिम

प्रभाव क्या होगा ? क्योंकर वे यह बात मान सकते हैं कि प्रजा का हितैषी, भारत का एक अद्वितीय विद्वान्, अन्त में उपस्थित होनेवाली बाधाओं और कुप्रभावों का ज्ञान प्राप्त किये बिना ही, इस भयपूर्ण, हानिकारक पथ पर उतर पड़ा ?

यह मुद्रा क्यों प्रचलित की गई, इस विषय पर तत्कालीन इतिहासकार कुछ भी प्रकाश नहीं डालते हैं। बरानी तो यही लिखता है कि मुहम्मद का कोष, उसकी उदारता, उसके बड़े बड़े विचारों आदि को पूर्ण करने के प्रयत्नों के कारण ख़ाली हो गया था, अतः उसने ताँबे के सिक्के जारी किये[1]। किन्तु बरानी का यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता। यदि कोष ख़ाली हो गया था, तो अन्त में जिस समय प्रत्येक मुद्रा के लिए सोने, चाँदी के सिक्के दिये गये, उस समय कोष में यह मूल्यवान् धातु कहाँ से आई, यह बात समझ में नहीं आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कारण बरानी के मस्तिष्क की उपज थी। आधुनिक इतिहासकारों ने भी इस प्रचलन का कारण ढूँढ़ निकालने के लिए कई प्रयत्न किये हैं किन्तु उन सब विद्वानों ने अपने अपने कारण ढूँढ़ निकालने में यह मान लिया है कि राजधानी-परिवर्तन के समान ही यह चलन भी सर्वदा के लिए था। जहाँ तक तत्कालीन इतिहास-लेखकों के ग्रन्थ देखे हैं वहाँ तक उन ग्रन्थों में इस प्रश्न का कहीं भी उत्तर नहीं मिलता है कि

यह प्रचलन कुछ ही काल के लिए था।

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इंडिया, खंड ३. पृष्ठ २४०।

यह प्रचलन सर्वदा के लिए था या कुछ ही काल के लिए। आधुनिक काल में प्रतिदिन काग़ज़ी नोट (Paper curency) काम में लेनेवाले यह बात भूल जाते हैं कि कई बार ऐसी सांकेतिक मुद्राएँ कुछ ही काल के लिए भी प्रचलित की जाती हैं। अत: हमें तो यही दिखलाई देता है कि इन मुद्राओं का प्रचलन कुछ ही काल के लिए था। तथा इस प्रचलन के तीन प्रधान उद्देश्य थे।

प्रचलन के तीन उद्देश्य।

(१) व्यापार-वृद्धि करना।

(२) एक सुबाह्य मुद्रा का प्रचलन करना।

(३) भारतीय मुस्लिम साम्राज्य के भिन्न भिन्न विभागों में आर्थिक एकता उत्पन्न करना।

इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि गुजरात, बङ्गाल तथा दक्षिणी प्रान्तों का उत्तरी प्रान्तों के साथ बहुत ही कम सम्पर्क था। भौगोलिक बाधाओं के कारण, तथा साम्राज्य-स्थापना से पहिले की अराजकता और प्रान्तों की राजनैतिक भिन्नता के कारण कुछ शताब्दियों से सारे देश में पारस्परिक सम्पर्क, यात्रा और व्यापार बहुत ही कम होगये थे। इस व्यापार को पुन: प्रारम्भ करने के लिए सारे देश में समान, सुबाह्य मुद्रा के प्रचार की आवश्यकता थी। मूल्यवान् धातुओं की सुबाह्य मुद्रा बनाना सरल नहीं था। पुन: इकबारगी, इतने प्रान्तों में सुवर्ण-मुद्रा प्रचलित करना, कठिन था और साथ ही बहुत सा धन व्यय होने की सम्भावना थी। एक बात और भी विचारणीय है कि इन नवीन प्रान्तों में एकाएक सुवर्ण-मुद्रा का प्रचार करना, कठिन था। क्योंकि

इससे वस्तुओं की दर पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। अतः मुहम्मद ने कुछ काल के लिए सांकेतिक मुद्रा का प्रचार किया, जिससे काम तो चल निकले, और फिर धीरे धीरे सुवर्ण आदि बहुमूल्य धातुओं की मुद्राओं को भारतीय बाज़ार में प्रचलन करके इन सांकेतिक मुद्राओं को बन्द कर दिया जावे। इस प्रकार मुहम्मद ने सांकेतिक मुद्रा का प्रचार करके भारत में अपने तीनों उद्देश्यों को पूर्ण करने का प्रयत्न किया।

कागज़ की मुद्राएँ क्यों प्रचलित नहीं की गईं।

इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है कि मुहम्मद ने पीतल व ताँबे के ही सिक्के क्यों चलाये, उसने कागज़ की मुद्राओं के प्रचलन का प्रयोग क्यों नहीं किया। प्रथम तो कागज़ के नोट धातु के सिक्के के समान टिकाऊ नहीं होते, और विशेषतया उन दिनों में जब यात्रा के लिए विशेष सुविधा तथा कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था, कागज़ी सिक्के बहुत ही जल्द नष्ट हो जाते। दूसरे, कागज़ के नोटों को बनाने में बड़ी कठिनाई होती। उस समय भारत में छापाखाने नहीं थे, अतः प्रत्येक नोट को हाथ से लिखना तथा आवश्यक चित्रकारी करनी पड़ती, जिसमें बहुत समय लग जाता। तीसरी बात यह थी कि व्यापार आदि के लिए आवश्यक नोटों की संख्या बनाये रखना कठिन था, क्योंकि निरन्तर काम में आने के कारण वे जल्द नष्ट हो जाते और उनके स्थान पर नये नये नोट बना कर जारी करने पड़ते। इन्हीं तीन कारणों से भारत में ताँबे और पीतल की मुद्राओं के प्रचार की योजना की गई।

मुहम्मद ने शाही फ़रमान-द्वारा इन मुद्राओं के प्रचार की सूचना दी। सांकेतिक मुद्राओं की दर चाँदी तथा सुवर्ण के सिक्कों के समान मान ली गई, किन्तु बरानी के कथनानुसार कुछ काल के अनन्तर यह फ़रमान रद कर दिया गया और यह आज्ञा दी गई कि जिस किसी के पास सांकेतिक मुद्राएँ हों, वे उन्हें शाही कोष में लौटा दें और उनके बदले में उन्हें सुवर्ण और चाँदी के सिक्के दिये जावेंगे[1]। अपने प्रथम फ़रमान के रद करने का कारण बरानी के कथनानुसार यह था कि देशी सुनार सांकेतिक मुद्राएँ बनाने लगे थे। इस कारण इन सांकेतिक मुद्राओं की दर घट गई थी और सर्वत्र व्यापार बन्द होगया।[2] बरानी लिखित कारण कहाँ तक सत्य था यह हम नहीं कह सकते। किन्तु हम उसके इस दृष्टिकोण से पूर्णतया सहमत नहीं हैं कि यह सारा उद्देश्य विफल हुआ। पहिले ही लिखा जा चुका है कि यह प्रचलन कुछ काल के लिए ही था, अतः वही दिखाई पड़ता है कि मुद्रा के लौटाने की आज्ञा देने का प्रधान कारण यह था कि इच्छित उद्देश्य पूर्ण होगया था, इसके प्रचार के साथ ही सारे भारत में समान मुद्राओं का बहुत कुछ प्रचार होगया, और इकबारगी सब मुद्राओं को लौटाने की आज्ञा देकर सारे भारत में एक साथ ही सुवर्ण और चाँदी की समान

सांकेतिक मुद्राओं का प्रचलन तथा उसका अन्त।

---

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ २४०.।

२. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ २४०।

मुद्राओं का प्रचार कर दिया। यह सम्भव है कि सांकेतिक मुद्राओं को लौटाने की आज्ञा निश्चित समय से इस कारण कुछ जल्द दे दी गई हो कि सारे भारत में सांकेतिक सिक्के बनने लगे थे। किन्तु बरानी का यह कथन कि इस मुद्रा के प्रचलन के कुछ ही काल के बाद सारा व्यापार स्थगित होगया, सत्य नहीं प्रतीत होता। यद्यपि यह मान लिया जाय कि सांकेतिक मुद्रा के अपकर्ष से व्यापार पर कुछ दुष्प्रभाव पड़ा, किन्तु जैसा कि आगे चल कर बताया जावेगा, यह दुष्प्रभाव बहुत ही कम था, और अगर कभी पड़ा भी हो तो इतना अचिरस्थायी था कि कुछ ही काल में इसका ख़याल भी किसी के मस्तिष्क में न रहा। इतनी बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि इस प्रचलन से व्यक्तिगत रूप से किसी को हानि नहीं पहुँची। जिस किसी ने भी सच्ची या नक़ली सांकेतिक मुद्राएँ शाही ख़ज़ाने में जाकर दीं उसे उनके बदले में सोने, चाँदी के सिक्के दिये गये।

(ड) सांकेतिक मुद्रा के प्रचलन का प्रभाव।

अब हम इस बात पर विशेषरूपेण विचार करेंगे कि इस मुद्रा का उद्देश्य कहाँ तक सफल हुआ। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस मुद्रा के प्रचलन में जिन तीन उद्देश्यों का हमने पहिले उल्लेख किया है वे सब सफल हुए। बंगाल और गुजरात में तो इसका यथेष्ट परिणाम हुआ। बाह्य व्यापार बहुत ज़ोरों से बढ़ा। इब्नबतूता, मार्को पोलो आदि यात्री अपनी यात्राओं के वर्णन में देश की समृद्धि का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि सर्वत्र व्यापार बहुत ज़ोर से चल रहा था। भड़ोच और कालीकट व्यापार के बहुत बड़े केन्द्र थे, और

व्यापारी खुरासान आदि देशों से माल लाकर, देहली आदि नगरों में बेंचते थे[1]। यद्यपि यह मान लिया जाय कि बरानी के इस कथन में कि "उस समय सारा व्यापार स्थगित होगया था" कुछ तथ्य है, तो भी हम यह कह सकते हैं कि इस दुष्प्रभाव का परिणाम बहुत ही अचिरस्थायी था। तीन वर्ष बाद ही जब सन् १३३३ ई० में इब्नबतूता भारत में आया, उस समय इस घटना का नाममात्र को भी प्रभाव न रहा, और प्राय: सब लोग इसे भूल गये थे[2]। बतूता ने अपनी यात्रा के वर्णन में केवल भारत के व्यापार का वर्णन किया है; उसने सांकेतिक मुद्रा के प्रचलन का उल्लेख-मात्र भी नहीं किया। जिस इब्नबतूता ने राजधानी-परिवर्तन के सम्बन्ध में कई सुनी हुई मनगढ़न्त कहानियों को अपने यात्रा-वर्णन में स्थान दिया—क्या कारण है कि उसके तीन वर्ष बाद की इस घटना (सांकेतिक मुद्रा के प्रचलन) का उसने नाम भी न लिया ?

(च) व्यापार, उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन

परोक्षरूप से ही व्यापार की वृद्धि में सहायता देकर मुहम्मद सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने व्यापारियों को सहायता दी और कारीगरों को उत्तेजित किया[3]। व्यापार को उत्तेजना देने के विचार से ही मुहम्मद ने चुंगी का महसूल भी घटा दिया[4]।

---

१. ईश्वरीप्रसाद:—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४८४-५.

२. ईश्वरीप्रसाद:—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २३१।

३. ईश्वरीप्रसाद:—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण: पृष्ठ ४८२.

४. इब्नबतूता के भ्रमण-वृत्तान्त:—पेरिस संस्करण, खण्ड २. पृष्ठ ७३.

आन्तरिक संगठन तथा व्यापार की वृद्धि से देश समृद्धि-शाली हो सकता है, किन्तु जहाँ तक कोई भी साम्राज्य बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित न हो, वहाँ तक आन्तरिक संगठन आदि का लाभ अधिक नहीं होता। विशेषतया सीमान्त-प्रदेशों में, जहाँ के निवासियों के सिर पर भावी मृत्यु निरन्तर नाचती रहती है, वहाँ तो कुछ भी लाभ होना सम्भव नहीं है। वे सर्वदा आक्रमण की बढ़ती हुई बाढ़ से बचने के लिए बिस्तर बाँधे भागने को तैयार रहते हैं। पुनः जहाँ तक अन्य प्रान्तों में भी यह विश्वास और धारणा उत्पन्न न हो कि वे पूर्णतया बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित हैं, वहाँ तक उन प्रान्तों के निवासियों के लिए यह बात असम्भव है कि वे देश के व्यापार तथा कारीगरी आदि में अपना द्रव्य लगावें। यदि यह धारणा विद्यमान भी हो, और कुछ व्यापार आदि चल भी निकले, फिर भी यदि कहीं एकाध आक्रमण हो जाय और आक्रमणकारी देश में घुस आवें तो एकबारगी ही उन सारे लाभों पर पानी फिर जावेगा। आक्रमणकारियों-द्वारा पादाक्रान्त देश चौपट हो जाता है। निर्जन, भग्न खण्डहर शासकों को अपनी प्रजा के प्रति कर्तव्य की उपेक्षा तथा उनकी शक्तिहीनता के लिए उलाहना देते हैं। यही दशा भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा की थी। निरन्तर होनेवाले मंगोलों के आक्रमणों को रोकने की बड़ी आवश्यकता थी। बलबन तथा उसके बाद के सारे शासकों को यह प्रश्न सताया करता था। बलबन ने सीमान्त-प्रदेशों में क़िले बनवाये, जिन्हें अलाउद्दीन ने पुनः सुदृढ़

मुहम्मद की बाह्य नीति। (अ) बाह्य आक्रमणों के रोकने के प्रयत्न। बाह्य आक्रमणों के बुरे प्रभाव।

बनवाया था। अलाउद्दीन ने एक सुसज्जित सेना भी रख छोड़ी थी और इसी सेना के डर से मङ्गोलों ने आक्रमण करने का साहस न किया। किन्तु अलाउद्दीन के साथ ही उसके सारे प्रयत्नों का अन्त होगया। अब पुनः उन्हें कार्यरूप में परिणत करना सम्भव न था। बड़ी सेना रखने में बहुत सा द्रव्य व्यय होता, और अलाउद्दीन के व्यापार-सम्बन्धी नियम अर्थशास्त्र के उद्भट विद्वान् मुहम्मद को प्रकृति-विरुद्ध प्रतीत हुए। अतः मुहम्मद ने इस प्रश्न को सुलझाने के लिए दूसरे उपाय ढूँढ़ने का प्रयत्न किया।

मुहम्मद के मस्तिष्क में एक मौलिक तथा पूर्णतया नवीन विचार आया। मुहम्मद स्वयं एक महान् सेनापति, तथा एक वीर योद्धा था, अतः वह युद्धशास्त्र से पूर्णतया परिचित था। उसका मौलिकता-पूर्ण मस्तिष्क कुछ नवीन बात ढूँढ़े बिना नहीं रह सका।

उत्तर-पश्चिमी सीमा की दशा।

इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि भारतीय मुस्लिम साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पञ्जाब के मैदानों तक ही परिमित थी। मुहम्मद ने सोचा कि मंगोलों को क्यों पहाड़ों से नीचे उतरने देवें। उसने देखा था कि जब एक बार वे पहाड़ों पर से उतर पड़े तो पञ्जाब के समतल मैदानों में उनके प्रवाह को रोकना कठिन था, और कई बार तो यह उमड़ती हुई बाढ़ देहली के फाटकों तक जा पहुँची थी। उन समतल मैदानों में ऊँचे ऊँचे पहाड़ों से उतरनेवाले मङ्गोलों का सामना करना, शाही सेना के लिए युद्ध-शास्त्र की दृष्टि से बहुत ही अहितकर होता था।

इसलिए मुहम्मद के मस्तिष्क में यह बात उपजी कि भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त-प्रदेशीय पहाड़ों को ही क्यों न जीतकर भारतीय साम्राज्य में मिला लेवें? दर्रों तथा घाटियों को अपने अधिकार में ले लेवें, तथा पहाड़ों के दूसरी ओर के ढाल पर चढ़ते हुए, मङ्गोलों को हराकर उन्हें भारत पर आक्रमण करने से रोक दें। पहाड़ों पर चढ़ते हुए मङ्गोलों को हराना शाही सेना के लिए अधिक कठिन न होगा। पुनः पंजाब के उपजाऊ मैदान युद्धस्थल नहीं रहेंगे और उन्हें खेती के काम में लिया जा सकेगा, जिससे इस प्रकार बहुत कुछ आमदनी बढ़ जावेगी। भारतीय सीमा को प्राकृतिक सीमाओं (Natural Frontiers) तक बढ़ाने का विचार मुहम्मद को सूझा।

उपरोक्त विचारों को ही कार्यरूप में परिणत करने के लिए मुहम्मद ने फ़ारस आदि देशों की राजनैतिक अवस्था का अध्ययन किया। उसने देखा कि उस समय फ़ारस की राजनैतिक अवस्था अपने प्रयोजन के अनुकूल थी, अतः उसने तुरन्त मिस्र के सुलतान के साथ मित्रता कर ली, और अपनी ओर की सीमा पर आक्रमण करने के लिए तैयारियाँ कीं। "चौपान की मृत्यु से फ़ारस में अराजकता का साम्राज्य होगया, और इस गड़बड़ से लाभ उठाने के लिए, चुग़ताइयों के नेता तर्मशरीन और मिस्र के सुलतान ने फ़ारस के पूर्वी तथा पश्चिमी सीमाओं पर धावा करने की सोची। मुहम्मद तुग़लक ने मिस्र के सुलतान से मित्रता करके ३,७०,००० पुरुषों की एक बड़ी सेना तैयार की, और उन्हें एक

फ़ारस पर चढ़ाई

वर्ष तक सुसज्जित रखा। परन्तु मुहम्मद के सारे प्रयत्न विफल हुए। प्रथम तो मिस्र के सुलतान की अबूसैद (खुरासान के शासक) के साथ मित्रता होगई, जिससे मिस्र के सुलतान ने मुहम्मद को सहायता देने से इनकार कर दिया। दूसरे, चीन के सम्राट् यह नहीं चाहते थे कि चुग़ताइयों के नेता जो उनके पड़ोसी ही थे, शक्तिशाली हों और इस प्रकार उन्हें सताने योग्य हो जावें। तीसरे, कई सरदारों ने मिल कर तर्मेशरीन को गद्दी से उतार दिया, जिससे फ़ारस के पूर्वी हिस्से में आक्रमण का भय कम होगया और अबूसैद की शक्ति पर से कई प्रतिबन्ध हट गये।"[१] इसके अतिरिक्त डाक्टर ईश्वरीप्रसाद यह भी लिखते हैं कि यदि यह आक्रमण होता तो फ़ारस के मुसलमानों के विरुद्ध भारतीय मुस्लिम सेना कहाँ तक सफल होती यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु इस विचार से हमारा मतभेद है, क्योंकि हमारे विचारानुसार राजनैतिक अवस्था में परिवर्तन होने के कारण ही मुहम्मद को आक्रमण का विचार छोड़ देना पड़ा। कोई दूसरा कारण उसे अपने उद्देश्य से विचलित नहीं कर सकता था। मुहम्मद को मालूम था कि उसे उस अवस्था में कोई सहायता न देगा, और उधर अबूसैद को मुहम्मद के विरुद्ध सहायता देनेवाले बहुत से थे। ऐसी दशा में आक्रमण करना व्यर्थ होता। अतएव मुहम्मद ने एकत्रित सेना को भंग कर दिया। इसी घटना का इतिहासकार "फ़ारस पर चढ़ाई" के नाम से उल्लेख करते हैं, और इसे भी मुहम्मद के पागलपन के कार्यों की सूची में स्थान मिला है।

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४३।

जब इस प्रकार साम्राज्य को प्राकृतिक सरहद तक बढ़ाना मुहम्मद को असम्भव जान पड़ा तो उसने मंगोलों के प्रति सामनीति का प्रयोग किया। सीमा के पास के कई मंगोल नेताओं से मुहम्मद ने मित्रता कर ली, जिससे न तो वे स्वयं भारत पर आक्रमण करें और न दूसरों को आक्रमण करने दें। भारत की शान्ति बनाये रखने के लिए मुहम्मद ने यह उपाय निकाला।

मंगोलों के प्रति साम-नीति का प्रयोग।

मुहम्मद ने अपने शासन-काल में एक-दो विजय प्राप्त करके, अपना साम्राज्य यत् किंचित् बढ़ाया। उसने कांगड़ा का प्रसिद्ध सुदृढ़ दुर्ग हस्तगत कर लिया।[1] बम्बई का प्रसिद्ध शहर जहाँ आज बसा है, उस प्रदेश को भी मुहम्मद ने अपने राज्य में मिला लिया।[2]

(ब) नये जीते हुए स्थान।

मुहम्मद की बाह्यनीति में एक वह घटना भी है जिसे ग़लती से इतिहासकार "चीन पर चढ़ाई" कहते हैं। इस घटना का ठीक ठीक विवरण यही है कि हिमालय के पहाड़ी प्रदेश में कारजल नामक एक रियासत थी। यहाँ के राजा देहली के सम्राट् के अधीन थे। एक बार राजा ने कर न दिया, अतः उसके विरुद्ध सेना भेजी गई। लौटते समय इस सेना को कुछ पहाड़ियों ने लूट लिया, तथा रसद न मिलने और सर्दी के मारे कई सैनिक मर गये। किन्तु प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद के मतानुसार "सेना भेजने का उद्देश सफल हुआ। पहाड़ी राजा ने सुलतान से सन्धि

(स) चीन पर चढ़ाई।

---

१. ईलियट और डासन—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३. पृष्ठ ५७०।

२. एडवर्डज—राइज आफ़ बाम्बे, पृष्ठ ५२।

कर ली तथा कर देना स्वीकार कर लिया; क्योंकि देहली के सुलतान की अधीनता स्वीकार किये बिना यह सम्भव न था कि पहाड़ी राजा की प्रजा, पहाड़ों से नीचे के मैदान के खेतों को जोत सके, क्योंकि ये मैदान देहली की सरहद में थे।"[1] इतिहासकारों ने इस सीधी सादी घटना को "चीन पर चढ़ाई" का नाम दिया है, और पागलपन के कार्यों में इसे भी स्थान दिया है। पाठकगण ही जान सकते हैं कि यदि एक अधीन राजा के विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजना पागलपन का कार्य समझा जावेगा तो फिर किस बात में पागलपन नहीं पाया जावेगा? मुहम्मद के अन्य (कल्पित पागलपन के) कार्यों के समान इस कार्य में भी हमें पागलपन की बू तक नहीं आती।

(ड) अन्य मुसलमान सम्राटों आदि के साथ सम्बन्ध।

मुहम्मद ने आस पास के अन्य मुसलमान या अन्य धर्म के शासकों से भी सम्बन्ध स्थापित किया। ख़लीफ़ा ने मुहम्मद का संस्कार किया, तथा उसके लिए एक फ़रमान भेजा। मुहम्मद ने ख़लीफ़ा के दूतों का बड़ा आदर-सत्कार किया। उसकी राजसभा में फ़ारस तथा चीन के दूत आये।[2] मुहम्मद ने भी इब्नबतूता को अपना दूत बना कर चीन भेजा था। ख्वारीजाम और जावा के दूत भी मुहम्मद के पास आये थे।[3] इन सब बातों से पता चलता है

---

१. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४४।

२. मसलक-अल-अबसार—नोटिसेस एट एक्सट्रैक्ट्स टोम xiii पृष्ठ १६९।

३. इब्नबतूता के भ्रमण—पेरिस-संस्करण, खण्ड ४, पृष्ठ १ और आगे।

कि आस-पास के देशों में मुहम्मद के लिए कितना आदर तथा भय था, और दूर दूर देशों के शासक उसके साथ मित्रता करने के लिए कितने उत्सुक थे।

साम्राज्य की नीति का धर्म से विच्छेद।

अब हम मुहम्मद के चतुर्थ और सर्वप्रधान प्रश्न पर विचार करेंगे। क्योंकर राज्य-प्रबन्ध और शासननीति धार्मिक प्रभावों से अलग किये जावें यही मुहम्मद के लिए चौथा प्रश्न था। बलबन की नीति में अज्ञातरूप से इस प्रश्न का प्रारम्भ हुआ था; अलाउद्दीन ने इस प्रश्न को सुलझाने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किये, किन्तु इस प्रश्न को पूर्णतया सुलझाना तथा उसे पूर्ण विकसित स्वरूप प्रदान करना मुहम्मद के ही भाग्य में लिखा था। यह एक महान् कार्य था, और जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मुहम्मद ही इस महान् कार्य के लिए पूर्णतया उपयुक्त था। मुहम्मद ने जान लिया कि अलाउद्दीन की नीति में बहुत कुछ परिवर्तन करना आवश्यक था। मुहम्मद को इस बात का पूरा पता था कि धर्माधिकारियों का राज-नीति पर प्रभाव पड़ना कितना हानिकारक होता है। अतः अपने अग्रगामी महान् अलाउद्दीन के समान मुहम्मद भी उनके प्रभाव का अन्त करने के लिए प्रबन्ध करने लगा। ये ही प्रयत्न मुहम्मद के शासनकाल की एक महान् या सबसे बड़ी विशेषता है। साम्राज्य-हितार्थ मुहम्मद ने अपने प्राणों से भी प्यारे धर्म का शासन-नीति पर कुछ भी प्रभाव न पड़ने दिया। सारे शासन को संगठित करने में मुहम्मद ने इसी बात का ध्यान रखा कि धर्माधिकारियों के प्रभाव का अन्त हो जावे।

सर्व-प्रथम मुहम्मद ने न्यायालयों की ओर ध्यान दिया। वह स्वयं बड़ा ही न्यायप्रिय शासक था, उसकी सबसे बड़ी इच्छा यह थी कि न्याय पक्षपात-रहित हो। किन्तु उसे मालूम था कि यदि न्यायालय क़ाज़ियों तथा अन्य धर्माधिकारियों के हाथ में रहेंगे तो उनसे इस बात की आशा करना व्यर्थ था कि वे पक्षपात-रहित न्याय करेंगे। हिन्दुओं के प्रति न्याय करने के लिए यह आवश्यक था कि मुसलमान धर्माधिकारियों का दृष्टिकोण विशाल हो, और दृष्टिकोण की विशालता बहुत ही थोड़े धर्माधिकारियों में पाई जाती थी। पुनः मुहम्मद को यह बात बहुत अखरती थी कि उनके धार्मिक महत्त्व के कारण सय्यदों को, चाहे वे कौन सा भी घोर से घोर अपराध क्यों न कर डालें, कभी भी किसी भी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाता था। मुसलमानों को भी मृत्युदण्ड नहीं मिलता था। मुहम्मद ने इन सारी विषमताओं का अन्त कर दिया। न्याय के सम्मुख अब सब व्यक्ति समान हो गये।

(अ) न्यायशासन की व्यवस्था।

अपनी न्याय-प्रियता के कारण मुहम्मद समय समय पर इस बात की जाँच किया करता था कि न्यायालयों में ठीक ठीक न्याय किया जाता है या नहीं। वह स्वयं भिन्न भिन्न न्यायालयों द्वारा दिये गये फ़ैसलों पर अपीलें सुनने लगा। अब न्यायमन्त्रियों तथा न्यायाधीशों के पद केवल कर्माधिकारियों के लिए ही सुरक्षित नहीं रखे जाते थे। अन्य कर्मचारियों को तथा भिन्न भिन्न सूबेदारों को भी न्याय करने का अधिकार दिया गया। इससे क़ाज़ियों, मुल्लाओं आदि की

शक्ति बहुत घट गई। अपने अधिकारों में कमी, अपनी सत्ता का दूसरों द्वारा उपभोग होते देखना और अपने कार्य का सम्राट् द्वारा निरीक्षण होना धर्माधिकारियों को बहुत अखरता था।

मुहम्मद के पक्षपात-रहित न्याय के अनुसार, सय्यदों और शेख़ों को भी साधारण मुसलमानों की तरह दण्ड दिया जाता था। अपराधी मुसलमानों को आवश्यकतानुसार मृत्युदण्ड भी दिया जाता था। "न तो किसी का उच्च कुलीन होना, न किसी का उच्च पदाधिकारी होना तथा किसी की पवित्रता, उसे उसके कुकृत्यों के दण्ड से बचा सकती थी।"[1] किन्तु यह न्यायप्रियता, धर्माधिकारियों को उनके स्वार्थों के प्रति घातक प्रतीत हुई। इसी कारण धर्माधिकारियों ने मुहम्मद की भरसक बुराई की है। इसी न्यायप्रियता के फलस्वरूप मुहम्मद रक्तपिपासु कहा गया है। मुहम्मद के इस महान् गुण ने कई एक व्यक्तियों को उसका विरोधी बना दिया।

शासननीति-सम्बन्धी दूसरी समस्या यह थी कि हिन्दुओं के प्रति क्या बर्ताव किया जाना चाहिए। कट्टर धर्मान्ध धर्माधिकारियों का दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण था, अतः उनका मत यह था कि हिन्दुओं के प्रति दमन-नीति का प्रयोग किया जाना चाहिए। पुनः हिन्दुओं पर कई

(च) हिन्दू प्रजा के प्रति शासकों का व्यवहार।

1. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४२।

एक धार्मिक बन्धन (Disabilities) स्थापित करने के भी वे पक्षपाती थे।

अलाउद्दीन के शासन-काल में राजनैतिक विचारों से हिन्दुओं के प्रति दमन-नीति का प्रयोग किया गया था। किन्तु मुहम्मद न तो स्वयं धर्मान्ध था, और न अलाउद्दीन के समान वह केवल राजनैतिक औचित्य के विचार से ही कोई कार्य करता था। इस बात का पहिले ही उल्लेख किया गया है कि अलाउद्दीन ने कई बार ऐसे मार्ग का अनुसरण किया जिससे यथेष्ट परिणाम तो अवश्य हुआ, किन्तु जिसका पूर्णरूपेण समर्थन नहीं किया जा सकता है। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद के कथनानुसार—"मुहम्मद अपने निर्बल उत्तराधिकारी, फिरोज़ के समान धर्मान्ध नहीं था। उसकी विद्याभिवृद्धि ने (Culture) उसके दृष्टिकोण को विशाल बना दिया था। दार्शनिकों तथा न्यायवादियों के साथ सम्पर्क होने से उसके विचारों में सहिष्णुता के उन्हीं भावों का संचार हुआ था जिनके लिए अकबर की इतनी प्रशंसा की जाती है।"[१] अतएव मुहम्मद ने अलाउद्दीन की हिन्दुओं के प्रति दमन-नीति को त्याग दिया। उसने अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति बहुत उदारता दिखाई। उनके धार्मिक भावों के लिए मुहम्मद ने, अपने पूर्वगामी सम्राटों से बहुत अधिक आदर प्रदर्शित किया। उन पर से सारे धार्मिक बन्धन हटा लिये गये और उन्हें साम्राज्य में बड़े बड़े पद दिये जाने लगे।

"अकबर के समान ही मुहम्मद ने भी सती-प्रथा का अन्त करने का प्रयत्न किया। पुनः उसने स्वतन्त्र हिन्दू

१. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इंडिया, द्वितीय संस्करण: पृष्ठ २४१।

राजाओं पर आक्रमण न किये, क्योंकि वह जानता था कि चित्तौड़ और रणथम्भौर के समान दुर्गों को सर्वदा अपने अधिकार में रखना बहुत ही कठिन था।"[१] साम्राज्य के अन्तर्गत हिन्दू राजाओं, रईसों आदि के प्रति मुहम्मद ने जिस नीति को ग्रहण किया, उसमें राजपूत राजाओं के प्रति अकबर की नीति का प्रथम आभास दिखाई पड़ता है। मुहम्मद ने करौली तथा जवाहर की रियासतों का अस्तित्व स्वीकार कर लिया।[२] मुहम्मद ने इस प्रकार धीरे धीरे साम्राज्य को सुदृढ़ नींव पर स्थित करने का प्रयत्न किया।

(स) करों की संख्या निर्धारित करना।

मुहम्मद का तीसरा कार्य करों की संख्या निश्चित करना था। उसने भी अलाउद्दीन के समान नये नये कर लगाये। क़ुरान ने केवल चार ही प्रकार के करों के लगाने की आज्ञा दी है, किन्तु मुहम्मद को मालूम था कि केवल इन चार करों की आमदनी से ही साम्राज्य-शासन नहीं चल सकता था। पुनः मुहम्मद ने इस विचार से कि दोआब के समान उपजाऊ प्रान्त अधिक कर दे सकते हैं, वहाँ के लगान की वृद्धि की। मुहम्मद का यह दुर्भाग्य था कि ज्यों ही लगान में वृद्धि की गई और नई दर वसूल

---

१. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इंडिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४१.

२ गार्डनर ब्राउन का मुहम्मद तुग़लक पर लेख देखो। फ़ुटनोट नं० १० पाउलेटः गेज़ेटियर आफ़ करौली स्टेट, पृष्ठ ४ से आगे।
एक्सटेक्ट्स फ्राम बाम्बे गवर्नमेन्ट रेकर्ड, न्यू सीरीज़ XXVI. पृष्ठ १४.

करने का प्रबन्ध किया गया, दोआब में अकाल पड़ गया। मुहम्मद की आज्ञा की ओट में दोआब के कर्मचारियों ने स्वार्थपूर्ति के लिए वहाँ के निवासियों पर अनेकानेक अत्याचार किये। किन्तु ज्यों ही मुहम्मद को अकाल पड़ने का पता लगा, त्यों ही उसने आज्ञा दी कि नये कुएँ खोदे जावें तथा किसानों को आगामी वर्ष खेती करने के लिए रुपया उधार दिया जावे। मुहम्मद की इस आज्ञा से बहुत ही थोड़े व्यक्तियों ने लाभ उठाया, क्योंकि कर्मचारियों के प्रारम्भिक अत्याचारों के कारण बहुत से निवासी दोआब छोड़कर चले गये थे। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि—"इससे पहले कभी भी सुधार करने के ऐसे प्रयत्न दुर्भाग्य के कारण विफल नहीं हुए थे।"[१] परन्तु फिर भी इतिहासकार दोआब की इस कर-वृद्धि को भी पागलपन का कार्य बताते हैं। कर्मचारियों की क्रूरता तथा उन्हीं के अत्याचारों के लिए सम्राट् को दोष देना, सम्राट् को पागल कहना, उसके प्रति अन्याय करना है।

मुहम्मद का, धर्माधिकारियों से इस बात पर भी मतभेद था कि लूट के माल का विभाग क्योंकर किया जावे। अलाउद्दीन के समान मुहम्मद भी लूट तथा युद्ध में प्राप्त माल का ⅘ भाग शाही ख़ज़ाने में भेज देता था। शेष ⅕ भाग को वह सैनिकों आदि में बाँट देता था। धर्माधिकारियों के मतानुसार मुहम्मद को कोई अधिकार न था कि वह कुरान द्वारा निश्चित भाग

(उ) लूट तथा युद्ध में प्राप्त धन का विभाग।

१. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २३४।

से अधिक धन लेवे। धर्माधिकारियों को विशेषतया यह अच्छा नहीं लगता था कि मुहम्मद अपनी राजसभा को वैभव-शाली बनाने के लिए बहुतसा द्रव्य व्यय करे। विदेशीय विद्वानों का आदर करने तथा उनके प्रति उदारता दिखाने के लिए भी इस प्रकार द्रव्य एकत्रित करना धर्माधिकारियों को उचित नहीं जान पड़ता था।

मुहम्मद की शासन-नीति की अन्तिम विशेषता—साम्राज्य की राजनीति में सार्वजनिक हित के प्रोग्राम—पर अब कुछ विचार करेंगे। मुहम्मद के विचारानुसार सम्राट् का यह भी कर्तव्य था कि प्रजा के हितार्थ तथा सुखार्थ वह कुछ विशेष कार्यों की ओर ध्यान दें। राजनीति तथा धर्म के विभिन्न होने के साथ ही साथ इस विशेषता के ही आधार पर हमने इस काल को "उन्नतिशील स्वच्छन्द शासनकाल" कहा है।

सार्वजनिक हित का शाही प्रोग्राम।

इस नूतन प्रोग्राम पर विचार करते समय यदि हम इस बात को ध्यान में रक्खें कि प्रजा को सुखी करने की ही इच्छा से मुहम्मद ने इस विशेषता को अपनी नीति में स्थान दिया, तो मुहम्मद के इस प्रोग्राम का महत्त्व बढ़ जाता है। फ़िरोज़ ने भी मुहम्मद के समान ही कुछ सार्वजनिक बातों पर ध्यान दिया था, किन्तु उसमें फ़िरोज़ का उद्देश्य कुछ दूसरा ही था। इस विशेषता से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि मुहम्मद के हृदय में प्रजा के प्रति कितना अटूट प्रेम भरा था।

मुहम्मद ने सर्वप्रथम धर्म की ओर ध्यान दिया। वह स्वयं अपने धर्म का पक्का था, अतः उसने अपने चरित्र से मुसलमानों

के सम्मुख एक उच्च आदर्श उपस्थित किया। स्वयं मदिरा को छूता तक न था, और अन्य मुसलमानों को भी न पीने का आदेश करता था। हिन्दुओं को भी स्वधर्मानुसार पूजा-पाठ करने की स्वाधीनता दे दी गई थी।

मुहम्मद ने मुस्लिम साम्राज्य के इतिहास में प्रथम बार शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। शासकों की ओर से शिक्षा को उत्तेजना दी जाने लगी। रोगियों के लिए अस्पताल खोले गये। मुहम्मद को चिकित्सा-शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने में आनन्द आता था। पुनः उसका हृदय बहुत ही कोमल था, दुख से पीड़ितों के प्रति उसके हृदय में दया उमड़ी पड़ती थी।

अकाल के कुप्रभावों को भी घटाने के लिए मुहम्मद ने जिस नीति का अवलम्बन किया, वह भारतीय इतिहास में एक अद्वितीय, अनोखी वस्तु है। अँगरेज़ों के शासन-काल में भी सन् १८७४ ई० के बाद ही शासकों का यह कर्तव्य समझा जाने लगा कि अकाल के कुप्रभावों को घटाने के लिए शासक प्रयत्न करें[1]। किन्तु १४ वीं शताब्दी में भी मुहम्मद ने इसे अपना कर्तव्य समझा, और उसे निबाहने का पूर्ण प्रयत्न किया। जब अकाल पड़ा तो मुहम्मद ने अपना सारा ध्यान इसी ओर आकर्षित किया। दूर दूर के प्रान्तों तथा शहरों में सब ओर विशेष कर्मचारी नियुक्त किये गये। आबादी की गणना की गई, भिन्न भिन्न गाँवों में तथा भिन्न भिन्न मुहल्लों और गलियों में रहनेवालों की सूची बनाकर, सारा अकाल-पीड़ित प्रदेश छोटे छोटे विभागों में विभक्त कर दिया गया, जिससे सरलता-पूर्वक सब प्रान्तों में अन्न बाँटा जा सके। शाही ख़र्चे से ही सारी

१, इम्पीरियल गेज़ीटियर आफ़ इण्डिया, खण्ड ३, पृष्ठ ४८९.

अकालपीड़ित प्रजा को अन्न बाँटा जाता था।[1] दोआब में भी जब अकाल पड़ा तो वहाँ कुँए खुदवाये गये और किसानों को बहुत कुछ सहायता दी गई। ऐसे समय कुछ कर्मचारियों ने स्वार्थ-सिद्धि के लिए बेईमानी की, और जब अपराध का पता लगा तो उन्हें दण्ड दिया गया। कई अपराधी भाग गये और असन्तुष्ट पुरुषों से मिलकर विद्रोह कर बैठे। एन-उल-मुल्क के भाई का विद्रोह ऐसा ही विद्रोह था।[2]

उन्नतिशील नीति के प्रति विरोध तथा उस नीति का पतन।

मुहम्मद ने अपनी शासन-नीति में उन्नति-शीलता का पूर्ण समावेश किया। कोई ७० वर्ष के क्रमशः विकास के बाद अब यह नीति पूर्ण विकसित स्वरूप को प्राप्त हुई थी। किन्तु अब इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रत्यक्षरूप से दिखाई पड़ने लगी। अलाउद्दीन के समय से ही धर्माधिकारियों को इस बात का पता चल गया था कि नूतन नीति से उनके अधिकारों पर आघात पहुँचेगा, किन्तु फिर भी विरोध का प्रारम्भ नहीं हुआ था। परन्तु जब मुहम्मद के शासन-काल में उन्नतिशील नीति का पूर्ण स्वरूप दिखाई पड़ा, तब तो धर्माधिकारी विचलित होगये। जिन जिन दूसरे व्यक्तियों के स्वार्थों पर भी मुहम्मद की नीति से आघात पहुँचा था

---

1. इब्नबतूता के भ्रमण—पेरिस संस्करण, खण्ड ३, पृष्ठ २६०, ३७३, खण्ड ४, पृष्ठ ३।

२. निज़ामउद्दीन अहमद—तबक़ात-इ-अकबरी का अनुवाद, पृष्ठ २२६, गार्डनर ब्राउन का मुहम्मद तुग़लक पर लेख। फुटनोट नं० २७, ईलियट और डासन—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३, पृष्ठ २४६-२४८.

वे भी धर्माधिकारियों से मिल गये। अदृष्टरूपेण असन्तोष की आग सुलग रही थी। पहिले तो उन्होंने स्वयं छोटे बड़े विद्रोह करना तथा दूसरों के कान भर के उनसे करवाना प्रारम्भ किये। किन्तु जब इन यत्र तत्र उठनेवाले विद्रोहों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा तो उन्होंने एकबारगी सारे भारतीय साम्राज्य में असन्तोष की आग सुलगा दी। सन् १३३५ ई० से इस नीति का पतन प्रारम्भ हुआ, और आगामी अर्धशताब्दी तक यह पतन चलता ही रहा।

उन्नतिशील नीति के पतनकाल को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) संघर्षण-काल—(१३३५-१३५१) ई० तक।

(२) एकीकरण-काल—(१३५१ के अनन्तर)।

पतन-काल के दो विभाग।

सन् १३३५ ई० में सारे भारत में विद्रोह का दावानल भड़क उठा। अपने सारे जीवन भर मुहम्मद इस दावानल का सामना करता रहा और उसे बुझाने के लिए पूर्ण प्रयत्न किये। किन्तु मुहम्मद की मृत्यु के बाद इस नीति का पूर्ण पतन हुआ, और फ़िरोज़ के सिंहासनारूढ़ होते ही शासन-नीति में पूर्ण प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और इस एकीकरण-काल में धर्मप्रधान शासन का प्रारम्भ हुआ। इस अध्याय में हम केवल संघर्षण-काल पर ही विचार करेंगे; एकीकरण-काल पर अगले अध्याय में विचार किया जावेगा।

सन् १३३५ ई० से मुहम्मद के शासनकाल में नूतन नीति तथा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया में भीषण संघर्षण प्रारम्भ हुआ। सन् १३३५ ई० के पहिले भी मुहम्मद के शासनकाल में कई विद्रोह हुए थे। इन सब प्रकार के विद्रोहों का हम निम्नलिखित रीति से वर्गीकरण कर सकते हैं।

मुहम्मद के शासन-काल के विद्रोहों का वर्गीकरण।

(१) मुसलमानों के विद्रोह—ये विद्रोह भी दो प्रकार के थे—

(अ) असन्तोष के कारण या असन्तुष्ट पुरुषों-द्वारा उत्पन्न किये गये विद्रोह।

(ब) स्वतन्त्र होने की इच्छा से किये गये विद्रोह।

(२) हिन्दुओं के विद्रोह।

सर्वप्रथम हम हिन्दुओं के विद्रोहों पर विचार करेंगे। मुहम्मद के समय में सुदूर दक्षिण में मुस्लिम साम्राज्य तथा सभ्यता की बढ़ती हुई बाढ़ के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी। भारत के उन दक्षिणी प्रान्तों में, जो किसी भी मुसलमान सम्राट् के अधीन नहीं हुए थे, धीरे धीरे एक नवीन हिन्दू-साम्राज्य का बीज बोया जाने लगा। सन् १३३६ ई० में विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना की गई। मुस्लिम साम्राज्य के कुछ दक्षिणी प्रान्त इस नवीन साम्राज्य में मिला लिये गये और हिन्दुओं का मुस्लिम साम्राज्य के प्रति विद्रोह प्रारम्भ हुआ। किन्तु यह दक्षिणी भारत तक ही परिमित रहा। पुनः इस विद्रोह का भारत के प्रथम मुस्लिम साम्राज्य के इतिहास पर अधिक प्रभाव न पड़ा।

मुसलमानों के विद्रोहों ने ही भारतीय इतिहास की काया-पलट कर दी। उनके विद्रोह दो प्रकार के थे। प्रथम तो असन्तुष्ट पुरुषों के विद्रोह थे। दूसरे वे विद्रोह थे, जो शासनकाल के अन्तिम दिनों में देश की अशान्ति से लाभ उठा कर स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के ध्येय किये गये थे।

(व) मुसलमानों के विद्रोह।

इन विद्रोहों का और विशेषतः प्रथम प्रकार के विद्रोहों के कारण का अध्ययन बहुत आवश्यक है, क्योंकि उनको जाने बिना फ़िरोज़ की नीति तथा उसके शासनकाल में मुस्लिम साम्राज्य के भङ्ग के प्रारम्भ होने के कारण समझना कठिन हो जाता है।

भारतीय मुसलमानों में कुछ के असन्तुष्ट होने के तथा मुहम्मद और उसकी नीति का विरोध करने के तीन प्रधान कारण थे। इस बात का पहिले ही उल्लेख किया जा चुका है कि प्रजा के तथा साम्राज्य के हितार्थ मुहम्मद ने जिस नीति का अनुसरण किया उससे यह अवश्यम्भावी हो गया कि कुछ व्यक्तियों के व्यक्तिगत स्वार्थों पर आघात पहुँचेगा, तथा अनेकों बार उसके कार्यों से कई व्यक्तियों को भी हानि होगी। अतएव जिन व्यक्तियों को हानि पहुँची वे विद्रोह करने को उठ खड़े हुए।

असन्तोष के कारण।

सर्वप्रथम, इन असन्तुष्ट पुरुषों में प्राचीन कर्मचारी-वर्ग के कई पुरुष थे। मुहम्मद को मालूम था कि प्राचीन कर्मचारी-वर्ग से इतर कक्षा के पुरुषों को कर्मचारी बनाने से प्राचीन कर्मचारी-वर्ग में असन्तोष होना अवश्यम्भावी था।

मुहम्मद ने साम्राज्य के सुशासन के लिए इन व्यक्तियों के असन्तोष की परवाह न की। किन्तु जब अन्य कारणों से भी असन्तोष बढ़ने लगा तब तो ये कर्मचारी भी मुहम्मद के विरुद्ध होगये।

दूसरे धर्माधिकारी-वर्ग मुहम्मद का विरोध कर रहा था। मुहम्मद की उन्नतिशील नीति से इन व्यक्तियों के स्वार्थों तथा उनकी सत्ता पर कुठाराघात हुआ। ये धर्माधिकारी इतने उदारचित्त न थे कि साम्राज्य के हितार्थ अपने स्वार्थों की बलि दे दें। अतः स्वार्थसिद्धि के लिए वे मुहम्मद के विरुद्ध होगये। मुहम्मद की उन्नतिशील नीति के ही कारण वे मुहम्मद का विरोध करने लगे। इन धर्माधिकारियों ही ने सर्वत्र विद्रोह की आग फैलाई और इन्होंने ने ही असन्तुष्ट कर्मचारियों के साथ मिल कर अनेक सूबेदारों के कान भरे और बहकाकर उन्हें विद्रोह के लिए उतारू किया। धर्माधिकारी बहुत चाहते थे कि मुहम्मद इन निरन्तर विद्रोहों से तङ्ग आकर सिंहासन त्याग दे। बरानी ने मुहम्मद को एक बार यह बात भी सूचित की थी[१]। किन्तु मुहम्मद यों सरलतापूर्वक राज्य कहाँ छोड़नेवाला था। अतः अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए धर्माधिकारियों ने साम्राज्य को नष्ट करने की सोची। उन्हें उस समय इस बात का विचार भी न आया कि जो दावानल वे प्रज्वलित कर रहे थे उसमें मुहम्मद की नीति, उसका साम्राज्य तथा उसका वंश ही नष्ट नहीं होनेवाला था, किन्तु यह अग्नि उन्हें भी भस्म कर

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३, पृष्ठ २६२-३।

देनेवाली थी। स्वार्थ में अन्धी होकर क्योंकर जातियाँ आत्मघात करती हैं इसका यह एक अच्छा उदाहरण है।

असन्तोष का तीसरा कारण सम्राट् का पक्षपात-रहित न्याय था। प्रत्येक अपराधी को उचित दण्ड दिया जाता था, चाहे वह कोई भी व्यक्ति क्यों न हो। यह बात सच है कि कई बार जब मुहम्मद को मालूम हो जाता कि किसी व्यक्ति का कहाँ तक अपराध है, तथा कई बार अपराधी की सेवाओं पर विचार करके, उसके दण्ड की मात्रा कम कर दी जाती थी।[1] किन्तु न्याय की इस कठोरता के कारण, जो कोई पुरुष कुछ भी अपराध करता, तब उसे सर्वदा यह डर बना रहता कि कहीं सम्राट् के कठोर दण्ड-वज्र का आघात उसे सहना न पड़े। इसी कारण किसी कर्मचारी से जब कोई अपराध हो जाता तब वह विद्रोहियों से जा मिलता था।

इन्हीं कारणों से विद्रोह उठने लगे और कोई पाँच वर्ष तक चलते रहे, ऐन-उल-मुल्क को विद्रोह करने के लिए उतारू किया, सिन्ध में लुटेरों के झुण्ड के झुण्ड खड़े किये गये किन्तु सन १३४२ ई० में मुहम्मद ने कुछ काल के लिए पुनः शान्ति स्थापित कर दी।

सन् १३४२ ई० का महत्त्व

सन् १३४२ ई०, अकबर के शासनकाल में सन १५८१ के समान ही बड़े महत्त्व का है। दोनों ही शासकों को इन वर्षों के पहिले अपनी नीति के विरुद्ध विरोध का सामना करना पड़ा। इन्हीं वर्षों में दोनों ही शासकों ने अपने अपने समय में

१. ईलियट और डासन—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३, पृष्ठ २४१.
ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४७।

शान्ति स्थापित की किन्तु जहाँ सन् १५८१ के अनन्तर अकवर के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं उठा वहाँ सन् १३४२ ई० के कुछ ही काल वाद मुहम्मद के विरुद्ध पुनः विद्रोह उठा। इस विभिन्नता के हमें तीन कारण दिखाई पड़ते हैं।

(१) मुहम्मद की सैनिक-शक्ति, अकवर की सैनिक-शक्ति से कुछ कम थी। मुहम्मद की सेना में, कई सैनिक ऐसे थे, जो धर्माधिकारियों के प्रभाव से मुहम्मद के विरुद्ध थे। इसके विपरीत अकवर को राजपूत आदि अन्य जातीय सैनिकों की भी पूरी पूरी सहायता थी, जिससे उसके विरुद्ध कोई भी पुनः सिर उठाने का प्रयत्न करने का साहस नहीं कर सका।

(२) अकवर के पास जैसे योग्य तथा विश्वस्त कर्मचारी थे, वैसे मुहम्मद के पास न थे। मुहम्मद का भतीजा फ़िरोज़ भी मुहम्मद के विरोधी धर्माधिकारियों के प्रभाव से प्रभावान्वित था। पुनः जिन कर्मचारियों पर मुहम्मद का विश्वास था, उनकी संख्या वहुत ही कम थी।

(३) तीसरा कारण यह था कि मुहम्मद के विरोधियों को इस वात का विश्वास था कि सुलतान को सिंहासनच्युत करने के वाद या उसकी मृत्यु के अनन्तर जो व्यक्ति सिंहासनारूढ़ होगा, उसके काल में उनका ही वोलवाला होगा। इसी कारण मुहम्मद के विरोधी, इन प्रारम्भिक पराजयों से हतोत्साह नहीं हुए। इसके विपरीत यद्यपि अकवर और सलीम में अधिक मेल न था, फिर भी अकवर के विरोधियों को इस वात की आशा न थी कि वे सलीम के शासनकाल में स्वार्थ-सिद्धि कर सकेंगे।

अतः सन् १३४२ में शान्ति स्थापित होने पर भी पुनः विद्रोह उठे, और इस बार दक्षिण-पश्चिमी प्रान्तों में पुनः आग सुलगी। कुटलुग़ख़ाँ के कान भरे गये। धार आदि के सूबेदार अज़ीज़ ख़ुमार द्वारा मारे गये। कुछ अमीरों का उदाहरण लेकर अन्य सूबेदारों को विद्रोह करने के लिए उतारू किया। कुछ सूबेदारों ने देवगिरि का क़िला ले लिया। मुहम्मद बीमार पड़ा था, फिर भी उसी साहस के साथ वह विद्रोहियों का पीछा करता करता थत्था पहुँचा और वहाँ के क़िले का घेरा लगाया। मुहम्मद बीमार तो पहिले से था ही, एक दिन सिन्ध के उस बालुकामय प्रदेश में मृत्यु ने उसे आ घेरा।

स्वतन्त्र होने के लिए विद्रोह।

साम्राज्य के इन निरन्तर विद्रोहों से कई पुरुषों ने लाभ उठाना चाहा। उन्होंने चाहा कि इस अराजकता के काल में वे स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर स्वयं उसके शासक बन जावें। इस उद्देश्य से केवल दो विद्रोह हुए, प्रथम तो माबार में अहसनशाह का विद्रोह, दूसरे बङ्गाल में फ़ख़रुद्दीन का विद्रोह। अहसनशाह के विरुद्ध मुहम्मद स्वयं सेना लेकर गया था, किन्तु उस समय सारा देश अकाल-पीड़ित था। पुनः ज्यों ही सम्राट् तेलिङ्गाना पहुँचा, शाही सेना में हैज़ा फैल गया। मुहम्मद को विवश होकर लौटना पड़ा। इसके बाद सम्राट् को फिर कभी भी इतना अवकाश न मिला कि वह सेना लेकर अहसनशाह को दबाने का प्रयत्न करे।

उधर बङ्गाल सर्वदा से साम्राज्य के अधीन रह कर भी एक स्वतन्त्र राज्य के समान ही रहा था। फ़ख़रुद्दीन नामक व्यक्ति ने अपने स्वामी कादरख़ाँ को जो लखनौती का सूबेदार

था, मार डाला और स्वयं शासक बन बैठा। मुहम्मद को न तो समय मिला और न उस प्रान्त की भौगोलिक स्थिति के कारण वह इस ओर अधिक ध्यान ही दे सका। मुहम्मद जानता था कि इस विद्रोह को दबाने में अधिक कठिनाई न होगी, क्योंकि 'फ़िरोज़ की कायर नीति के आरम्भ होने पर ही बङ्गाल भारतीय साम्राज्य से पूर्णतया अलग हुआ।'[1]

मुहम्मद की मृत्यु और संघर्षण-काल का अन्त।

मुहम्मद की मृत्यु के साथ ही इस नीति के पतन के प्रथम काल का—संघर्षण-काल का—अन्त होगया। यदि मरते हुए सम्राट् के मुख से ये शब्द निकलते कि—"मेरी मृत्यु के बाद मेरे कार्य का अन्त हो जावेगा; इस नीति का पूर्ण पतन होगा" तो यह कितनी सच्ची भविष्यवाणी होती। मुहम्मद की मृत्यु के साथ ही उन्नतिशील नीति का अन्त होगया। कुछ काल के लिए साम्राज्य का भाग्यभानु अस्त होगया। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए धर्माधिकारियों ने जिस नीति का अनुसरण किया, वह बहुत ही पतित नीति थी। अपने स्वार्थ के लिए उन्होंने साम्राज्य के मूल पर कुठाराघात किया। सम्राट् मुहम्मद के पक्षपात-रहित न्याय, सुशासन तथा उन्नतिशील नीति का अन्त करने के लिए धर्माधिकारियों ने साम्राज्य-भङ्ग का बीज बोया। मुहम्मद के समय में ही यह बीजारोपण हुआ। ये विद्रोह क्या थे, उस बीज को बोने के लिए तथा उसके अनुकूल वातावरण तैयार करने के प्रयत्न-मात्र थे। इस समय धर्माधिकारी कुछ अंशों में अपने उद्देश्य में सफल हुए, किन्तु जब यह

---

१. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३१८।

बीज फूटा, वह विषवृक्ष बढ़ा और जब धर्माधिकारियों को उसके उस भीषण फल के स्वाद का पता लगा तब तो वे घबरा कर उस विषवृक्ष को नष्ट करने लगे। किन्तु तब क्या हो सकता था ?

वह महान् सम्राट् मर गया, उसकी नीति सर्वदा के लिए नष्ट होगई। किन्तु उसके विरोधियों ने उसे क्षमा नहीं किया। इसी कारण जब बरानी इतिहास लिखने बैठा तो उसने मुहम्मद की भरसक बुराई की, और उसे बुरा बताने के लिए कई अच्छी बातों का उल्लेख तक न किया, और कई बातों का चतुरतापूर्वक इस रूप से वर्णन किया कि पाठक का मत मुहम्मद के विरुद्ध हो जावे। मुहम्मद के सारे शासनकाल को बरानी ने ऐसे रङ्ग में रँगा कि पढ़नेवाले के हृदय पर मुहम्मद का एक बहुत ही बुरा और भयङ्कर चित्र अंकित हो जावे। पुनः फ़िरोज़ के शासनकाल में धर्माधिकारियों का दौरदौरा था, अतः जब मुहम्मद की मृत्यु के बाद बरानी अपना इतिहास लिखने बैठा तो तत्कालीन वातावरण का प्रभाव उस पर पड़े बिना न रहा। इसी कारण बरानी ने मुहम्मद को भारत का, या मुसलमानों का ही शत्रु नहीं बताया है किन्तु उसे अपनी प्रजा का वैरी तथा मानव-समाज का शत्रु भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया।

ऐसे ही इतिहासकारों के वर्णन के कुहरे में उस महान् सम्राट् की महत्ता तथा उसकी कीर्ति का वह उच्च पर्वत-शिखर, आधुनिक इतिहास-लेखकों और इतिहास के पाठकों की दृष्टि से छिपा रहा। परन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, ज्यों ज्यों इतिहासकार इस शासक

के कार्यों पर विचार करते हैं, त्यों त्यों वे उसकी महत्ता का पता पाते जाते हैं। ज्यों ज्यों समय की दूरी से वह सम्राट् हमारे समय से दूर हटता जाता है, त्यों त्यों उसके कार्यों का हमें अधिकाधिक स्पष्ट दृश्य दिखाई देता है। कोई पन्द्रह वर्ष बीते जब प्रथम बार गार्डनर ब्राउन ने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया था कि जैसा प्रायः कहा जाता था, यह शासक पागल न था।

मुहम्मद के समकालीन पुरुष स्वार्थ तथा अनेक व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण उस सम्राट् की महत्ता तथा उसके कार्यों के महत्त्व का ठीक ठीक पता नहीं पा सके। किन्तु कोई सात शताब्दी के बाद जब निष्पक्षभाव से मुहम्मद के कार्यों पर विचार करते हैं, तब हमें इस बात का पूरा पता चलता है कि उस महान् शासक की नीति, उसकी योग्यता, बुद्धिमत्ता तथा उसके मस्तिष्क की मौलिकता आदि के अनुरूप ही थी। मुहम्मद की नीति महान् थी, उसका आदर्श उच्च था, तथा उसे अपने कर्तव्य का और अपने उत्तरदायित्व का पूरा पता था। शासकों का क्या कर्तव्य है, उनका शासितों के प्रति क्या उत्तरदायित्व है, इस विषय के उसके विचार उसकी नीति में पूर्णतया दिखाई पड़ते हैं, और ये विचार ऐसे हैं कि वे आज भी किसी महान् देश के उन्नतिशील सम्राट् को, संसार के महान् सम्राटों की श्रेणी में उच्च स्थान प्रदान करवा सकते हैं।

मुहम्मद के उद्देश्य, अब धीरे धीरे उन्नतिशील देशों की नीति में स्थान पाने लगे हैं। धार्मिक विचारों का

राजनीति पर प्रभाव पड़ना कितना हानिकारक है, यह बात भी अब धीरे धीरे राजनीतिज्ञ जानने लगे हैं। तत्कालीन संकीर्ण दृष्टिकोणवाले धर्माधिकारियों की दृष्टि में, अपनी नीति के कारण मुहम्मद भले ही काफ़िर प्रतीत हो, किन्तु जिन राजनीतिज्ञों का दृष्टिकोण विशाल है, उनका इस विषय पर कभी मतभेद नहीं हो सकता है कि राजनीति को धार्मिक विचारों के प्रभाव से दूर करने की मुहम्मद की नीति पूर्णतया ठीक थी। मुहम्मद की मृत्यु के अनन्तर, उसके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में, उसकी नीति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का आरम्भ होने से साम्राज्य का जो भीषण पतन हुआ, उसे देख कर, हम तो इस प्रतिक्रिया के आरम्भकर्ताओं को—धर्माधिकारियों को—ही साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी समझते हैं। साम्राज्य में विद्रोह तथा शासकों की सत्ता का तिरस्काररूपी विष फैल रहा था, और उसके साथ ही शासन में शिथिलता आ रही थी। क्योंकर यह शिथिलता बढ़ती गई और क्योंकर धीरे धीरे भारतीय साम्राज्य मृतप्राय हो गया, यह हम आगे देखेंगे।

८.

फ़िरोज़ तुग़लक़

८.

फ़िरोज़ तुग़लक़—एकीकरणकाल—धर्मप्रधान शासन तथा साम्राज्य का पतन

थत्था के क़िले का घेरा देते देते एकाएक फ़िरोज़ देहली के सिंहासन पर आरूढ़ हो गया। उन बालुकामय मैदानों पर फ़िरोज़ का राज्यारोहण हुआ था, किन्तु उसे जो साम्राज्य मिला, वह फूलों की सेज न थी। यों ही राज्य-शासन तथा सुखी जीवन में चिरकाल से शत्रुता चली आ रही है और विशेषतया उस समय तो राज्य-शासन एक दुरूह समस्या हो गई थी। कोई अर्धशताब्दी के उन्नतिशील शासन ने धीरे धीरे एकीकरणकाल उत्पन्न कर दिया था। इस उन्नतिशील नीति के विरोधियों के उद्देश्यों में यद्यपि पूर्णतया एकता नहीं पाई जाती थी, फिर भी एक बात पर—उन्नतिशील नीति को नष्ट कर देने पर—सबका एक मत था। संघर्षणकाल में ये विरोधी अनजाने भारत के प्रथम मुस्लिम साम्राज्य की जड़ खोद रहे थे। मुहम्मद की मृत्यु के अनन्तर कोई भी व्यक्ति ऐसा न रहा जो इस उन्नतिशील नीति का समर्थन कर सके। सहिष्णु-शील तथा उन्नतिशील नीति के विरुद्ध, विरोध ने भारतीय साम्राज्य के भाग्य को एक दूसरे ही ढाँचे

उन्नतिशील नीति के पतन का दूसरा काल—एकीकरण काल।

में ढाला। संघर्षण-काल में उत्पन्न, विद्रोह के दावानल की भीषण आँच को भारत का सौभाग्य नहीं सह सका, वह पिघल गया, और दुर्भाग्य के साँचे में ढुलक कर उसी ढाँचे में ढल गया। पुरानी नीति नष्ट होगई, किन्तु उस नीति के भस्मावशेषों में से जिस नीति का उद्भव हुआ, वह पुरानी नीति से पूर्णतया विपरीत थी। जहाँ उन्नतिशील नीति में, प्रजा तथा साम्राज्य का हित और विवेक ही शासकों को निर्दिष्ट पथ पर चलाते थे, वहाँ अब असहिष्णुता, धर्माधिकारियों में अन्ध-विश्वास, और उनका आज्ञाओं का अक्षरशः पालन ही अब शासकों की नीति के निर्धारक रह गये।

सन् १३५१ ई० में भारत की राजनैतिक अवस्था। फ़िरोज़ के सम्मुख तीन समस्याएँ।

सन् १३५१ ई० में भारत की राजनैतिक अवस्था पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि फ़िरोज़ को तीन कठिन समस्याएँ हल करनी थीं। सर्वप्रथम भिन्न-भिन्न विद्रोही प्रान्तों को जीतना, तथा यों पुनः साम्राज्य को सुदृढ़ करना फिरोज़ के लिए अत्यावश्यक था। बंगालप्रान्त अभी तक पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं हुआ था। सिन्ध में अभी तक विद्रोहियों का पीछा किया जा रहा था। अगर प्रयत्न किये जावें तो सिन्ध को पुनः जीत लेना कठिन न था। दक्षिण में देवगिरि के आस पास एक नवीन साम्राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्न किया जा रहा था। दक्षिण के इन विद्रोही प्रान्तों में जिस स्वतन्त्र राज्य का उद्भव हो रहा था, उसकी नीति पूर्णतया मुहम्मद की नीति के विपरीत थी। बहमनी साम्राज्य उन्नतिशील नीति के विरुद्ध

प्रतिक्रिया का मूर्तिमान् स्वरूप था। यह बात सत्य थी कि साम्राज्य के तीनों छोरों पर विद्रोहाग्नि जल रही थी, किन्तु अभी तक इसकी ज्वाला इतनी बढ़ी न थी कि वह बुझाई न जा सके। यदि मुहम्मद ही कोई दस वर्ष तक और जीवित रहता तो सम्भव था कि वह पुनः साम्राज्य में शान्ति स्थापित कर देता। ऊँट किस करवट बैठता है, यह कई एक प्रान्तों के सूबेदार बड़ी उत्सुकता से देख रहे थे। अगर ये विद्रोही प्रान्त स्वतन्त्र होगये तो दूसरे सूबेदारों की भी स्वतन्त्र होने की इच्छा भड़क उठेगी। फ़िरोज़ इन विद्रोही प्रान्तों के प्रति क्या बर्ताव करेगा, इसी बात पर साम्राज्य का भविष्य निर्भर था।

दूसरा प्रश्न साम्राज्य की नीति का था। साम्राज्य की नीति अब तक उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन की रही थी। किन्तु इसके विरुद्ध जिस प्रतिक्रिया का आरम्भ हुआ था, वह अब धीरे धीरे भीषण स्वरूप धारण कर रही थी। क्या फ़िरोज़, प्रतिक्रिया की इस बढ़ती हुई बाढ़ में बह जावेगा, या क्या वह इस प्रवाह को रोक कर, धीरे धीरे इसे शान्त करके, साम्राज्य को प्रतिक्रिया के भीषण परिणाम से—साम्राज्य भंग तथा पतन से—बचावेगा ?

तीसरा प्रश्न यह था कि हिन्दुओं के प्रति क्या बर्ताव किया जाना चाहिए। यद्यपि यह प्रश्न एक प्रकार से दूसरे प्रश्न का ही अंग था, किन्तु कई कारणों से इसका महत्त्व बढ़ गया था। इस समय सारे भारत में हिन्दुओं की शक्ति बढ़ रही थी। सुदूर दक्षिण में विजयनगर साम्राज्य स्थापित हो रहा था। उत्तरी भारत में राजपूत राजाओं की

शक्ति बढ़ रही थी। फ़िरोज़ इस बढ़ती हुई शक्ति का क्योंकर सामना करेगा ? क्या हिन्दुओं को अपना मित्र बना कर, उन्हें साथ लेकर, साम्राज्य को बचावेगा या उनके प्रति अत्याचार करके उन्हें साम्राज्य-भंग करने के लिए उत्सुक कर देगा ? क्या फ़िरोज़ पतनोन्मुख साम्राज्य को प्रतिक्रिया के प्रवाह में बहने देगा और यों उसे पतन के गम्भीर गह्वर में ढकेल देगा ?

उपरोक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर जितना सरल दिखाई देता है, उतना सीधा न था। इन्हें हल करना, तदर्थ उपयुक्त नीति निर्धारित करना कठिन काम था। जिस प्रकार इँगलैंड के इतिहास में १७ वीं शताब्दी के प्रथम अर्धभाग का इतिहास इँगलैंड के तत्कालीन शासकों के व्यक्तिगत चरित्र तथा व्यक्तित्व पर निर्भर था, त्यों ही भारत में इस समय भी साम्राज्य का भविष्य फ़िरोज़ के चरित्र तथा व्यक्तित्व पर निर्भर था। साम्राज्य की नीति को सम्राट् ही निर्धारित करता था। मध्य-काल में साम्राज्य की नीति पर सम्राट् के व्यक्तित्व तथा विचारों की अमिट छाप लगती थी। अतः हम मुहम्मद के चचेरे भाई तथा उसी के उत्तराधिकारी फ़िरोज़ के चरित्र पर एक दृष्टि डालेंगे तथा देखेंगे कि वह कहाँ तक साम्राज्य के इन कठिन प्रश्नों को हल करने योग्य था।

फ़िरोज़ का चरित्र। कहाँ तक उसके चरित्र का साम्राज्य के भविष्य पर प्रभाव पड़ा ?

"धर्माधिकारियों का अन्धानुयायी" इन शब्दों में हम फ़िरोज़ के चरित्र का संक्षेप में वर्णन कर सकते हैं। फिरोज़ अपने भाई मुहम्मद के प्रतिकूल, बहुत ही निर्बल शासक था। अन्तिम समय तक

वह किसी भी बात का निश्चय नहीं कर सकता था। विचारों में अस्थिरता तथा दूसरों के विचारों से शीघ्र ही प्रभावान्वित होना, ये उसके चरित्र की दो प्रधान विशेषताएँ या दो प्रधान दोष थे। ख्वाजाजहाँ के बारे में भी फ़िरोज़ अपने शक्तिशाली अमीरों के मत के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सका, और जब समाना जाते समय वह विश्वस्त मित्र मारा गया तो इस निर्बल और अनिश्चित नीतिवाले शासक ने अँगुली भी न उठाई।

फ़िरोज़ में उच्च आकांक्षा का पूर्ण अभाव था। यह अभाव, एक साधारण व्यक्ति में, और विशेषतया साधुओं में भले ही गुण हो, किन्तु एक ऐसे मध्यकालीन सम्राट् में, जिसके हाथ में एक पतनोन्मुख साम्राज्य की बागडोर थी, साम्राज्य के हित के विचार से एक बड़ा भारी दोष था। एक बिखरते हुए साम्राज्य के सिंहासन पर एक आकांक्षारहित शासक के आरूढ़ होने से साम्राज्य का भाग्य-भानु सर्वदा के लिए अस्त होगया।

फ़िरोज़ युद्ध-विद्या से पूर्णतया अनभिज्ञ था। उसमें एक चतुर तथा साहसी सेनापति का सा चाञ्चल्य नहीं पाया जाता। वह एक ऐसा व्यक्ति था, जो कभी भी अच्छा सेनापति नहीं हो सकता था। जब कभी उसने स्वयं सेना-संचालन किया, उसके संकीर्ण धार्मिक विचार, युद्धविद्या का अज्ञान आदि कारणों ने उसे कभी भी सफल नहीं होने दिया। इसी कारण उसकी बाह्य नीति अकर्मण्यता और विफलता का एक लम्बा चिट्ठा-मात्र है।

फ़िरोज़ का चौथा दोष उसमें विद्वत्ता का अभाव था। मुहम्मद की सी योग्यता उसमें नाम-मात्र को भी नहीं पाई जाती। न तो उसमें एक महान् साम्राज्य के प्रश्नों को ठीक

तरह से समझने की योग्यता थी, और न उसमें यह साहस था कि दृढ़तापूर्वक वह साम्राज्य के प्रश्नों को हल करने का प्रयत्न करे। कुछ धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त फ़िरोज़ ने अन्य किसी विषय के ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया था। उसे किसी भी दूसरे विषय से न तो परिचय था, और न उनका कुछ भी ज्ञान प्राप्त करने की उसे इच्छा थी।

फ़िरोज़ के चरित्र का पाँचवाँ दोष दृष्टिकोण की संकीर्णता थी। वह असहिष्णुता का मूर्तिमान् अवतार था। धार्मिक बातों में ही नहीं, राज्य के समस्त कार्यों में केवल क़ुरान ही उसकी मार्गप्रदर्शिका थी। विधर्मियों के प्रति उसने सर्वप्रकार के अत्याचार किये, हिन्दुओं के ही प्रति नहीं, किन्तु शिया मुसलमानों के प्रति भी, फ़िरोज़ ने असहिष्णुता का वर्ताव किया। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि "औरङ्गज़ेब के समान ही फ़िरोज़ भी बहुत धर्मान्ध था, किन्तु फ़िरोज़ में औरङ्गज़ेब की सी योग्यता तथा बुद्धि न थी।"[1]

फ़िरोज़ के चरित्र का अन्तिम दोष यह था कि यद्यपि वह ऊपरी रीति से धार्मिक बनने का ढोंग रचता था, किन्तु था वह एक चरित्र-हीन व्यक्ति। प्रत्येक बात में वह क़ुरान की आज्ञाओं का अनुसरण करता था। सारी राजनीति को उसने क़ुरान की आज्ञाओं के अनुसार ही ढालने का प्रयत्न किया, किन्तु क़ुरान में उसकी यह महान् श्रद्धा, उसके चरित्र को उच्च नहीं बना सकी। अन्य बातों के साथ ही साथ इस बात में भी हम औरंगज़ेब और फिरोज़ में पूर्ण भिन्नता पाते हैं। औरंगज़ेब

१. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २५६.

धर्मप्रिय तथा क़ुरान का अनुचर ही नहीं था, किन्तु क़ुरान-द्वारा निर्धारित चरित्र-सम्बन्धी नियमों और आज्ञाओं का भी वह पूर्ण पालन करता था। फ़िरोज़ के विषय में कहा जाता है कि वह बहुत मदिरापान करता था और पूरा व्यभिचारी था।

यहाँ तक हमने फ़िरोज़ के दोषों का वर्णन किया है, अब अगर हम फ़िरोज़ के गुणों का भी वर्णन न करें तो हम उसके प्रति अन्याय करेंगे। फ़िरोज़ असहिष्णु था, किन्तु उसने सुन्नी मुसलमानों के प्रति बहुत दया दिखाई। दरिद्री मुसलमानों को आर्थिक सहायता देने का भी उसने प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त उसने कई ऐसे कार्य किये, जिनसे प्रजा को बहुत कुछ सहायता मिली। आन्तरिक शासन में भी फ़िरोज़ ने कुछ सुधार किये, जिनसे कुछ काल तक प्रजा को सुख मिला, किन्तु उनसे भी साम्राज्य के पतन में बहुत सहायता मिली।

साम्राज्य का पतन और उसके लिए फ़िरोज़ का उत्तरदायित्व।

फ़िरोज़ के दोष और गुणों का पूर्ण विचार करने के अनन्तर हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने और सुसंगठित करने के लिए फ़िरोज़ में नाम-मात्र को भी योग्यता न थी। जिस प्रकार का शासक इस समय भारतीय सिंहासन पर चाहिए था, फ़िरोज़ उसके बिलकुल ही विपरीत था। "फ़िरोज़ की बलहीन नीति ही बहुत दर्जे तक भारत के प्रथम मुस्लिम साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी है।"[1] डाक्टर ईश्वरीप्रसाद के इस कथन से हम पूर्णतया सहमत ही नहीं

1. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २६१।

हैं, किन्तु इस प्रश्न पर कि प्रथम भारतीय मुस्लिम साम्राज्य के पतन के लिए कौन उत्तरदायी है, हमारा यह निश्चित मत है कि फ़िरोज़ के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति के सिर पर यह उत्तरदायित्व नहीं मढ़ा जा सकता। यह बात सच है कि जो प्रश्न फ़िरोज़ को हल करने थे वे बहुत ही कठिन थे, और फ़िरोज़ में यह योग्यता न थी कि वह उन्हें हल कर सके; किन्तु क्या फ़िरोज़ की अयोग्यता के लिए मुहम्मद के सिर पर साम्राज्य के पतन का पाप डालना न्यायसंगत है? प्राय: इतिहासकार फ़िरोज़ की बहुत प्रशंसा करते हैं, और उसके लिए एक विशेषण प्राय: काम में लाया जाता है,—वे उसे एक "दयावान् शासक" बताते हैं। किन्तु इसके लिए केवल हम एक वाक्य उद्धृत कर देना चाहते हैं जो नेपोलियन ने जोसेफ़ द्वितीय को लिख भेजा था। नेपोलियन ने लिखा था कि "जब मनुष्य किसी बादशाह को एक दयावान् शासक कहे तो यह निश्चित समझो कि उस शासक का शासन विफल हुआ।"

फ़िरोज़ की शासन-नीति।

इस बात का पहिले ही उल्लेख किया जा चुका है कि मुहम्मद की नीति के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, और संघर्षण के अनन्तर जब उन्नतिशील नीति का पतन हुआ तो उन्नतिशील शासन के भग्नावशेषों में से धर्मप्रधान शासन का उद्गम हुआ। इस परिवर्तन के दो बड़े कारण थे। पहला कारण यह था कि मुहम्मद की नीति के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई वह धीरे धीरे अधिकाधिक शक्तिशाली ही होती गई।

विरोधियों के बढ़ते हुए समूह ने मुहम्मद की मृत्यु के बाद अपनी मनोकामना पूर्ण की। मुहम्मद की नीति को उलटा देने के लिए वे तैयार हो गये। इस बढ़ते हुए विरोध को दूसरे कारण से बहुत सहायता मिली। दूसरा कारण यह था कि इस समय भारत के दुर्भाग्य से जो शासक सिंहासनारूढ़ हुआ, वह एक असहिष्णु, धर्मान्ध व्यक्ति था। धार्मिक विचारों में फ़िरोज़ पूर्णतया मुहम्मद के विपरीत था। उसका दृष्टिकोण संकीर्ण था, अतः उसने भी धर्मप्रधान शासन की प्रगति को सहायता दी। उन्नतिशील नीति के विरोधी धर्माधिकारियों से फ़िरोज़ पूर्णरूप से सहमत था। इसी कारण जब फ़िरोज़ गद्दी पर बैठा तो उसने एक तरह से धर्माधिकारियों के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। इस आत्मसमर्पण के साथ ही मुहम्मद की उन्नतिशील नीति का अन्त हो गया और अब धर्मप्रधान शासन का आरम्भ हुआ। प्रतिक्रिया की पूर्णरूप से विजय हुई, और एकीकरण काल प्रारम्भ हुआ। धर्मप्रधान शासन की स्थापना की गई, धर्माधिकारियों का सब प्रान्तों में दौरदौरा होगया। अर्धशताब्दी तक सत्ताविहीन रह कर अब धर्माधिकारियों ने पुनः सत्ता प्राप्त की। इस विजय से उन्मत्त होकर शासकों ने धर्मान्धता तथा असहिष्णुतापूर्ण नीति प्रारम्भ की। इन धर्माधिकारियों का अन्धानुसरण करके फ़िरोज़ ने साम्राज्य के हितों का बलिदान कर डाला। उसने सारी सत्ता धर्माधिकारियों को दे डाली। इस धर्म-प्रधान शासन के आरम्भ के साथ ही साम्राज्य के पतन का भी प्रारम्भ हो गया।

विद्रोही प्रान्तों को जीतना, असन्तुष्ट साम्राज्य को शान्त करना तथा सारे साम्राज्य के शासन को सुसंगठित बनाना फ़िरोज़ का प्रथम कर्तव्य था। किन्तु फ़िरोज़ इस कर्तव्य का पालन नहीं कर सका, उसकी वाह्यनीति पूर्णतया विफल हुई।

फ़िरोज़ की वाह्य-नीति।

जिस समय मुहम्मद की मृत्यु हुई, उस समय फ़िरोज़ भी मुहम्मद के साथ सिन्ध में था। उसे दिल्ली लौटने की शीघ्रता थी। अतः वह सिन्ध में विद्रोहियों को दबाये बिना ही लौट आया।

देहली में अपनी सत्ता स्थापित कर लेने के बाद उसने बंगाल की ओर दृष्टि डाली। बंगाल के विद्रोह को दबाने के लिए उसने सेना भेजी। इस सेना ने विद्रोहियों को हरा दिया, और विद्रोहियों ने भागकर इकदाला के दुर्ग में शरण ली। शाही सेना ने इस दुर्ग का घेरा लगाया। इस समय विजय फ़िरोज़ के गले में वरमाल डाला ही चाहती थी, विद्रोही आत्मसमर्पण की तैयारियाँ कर रहे थे, किन्तु उसी समय दुर्ग पर से वहाँ की स्त्रियों के रोने-पीटने का शोर सुनाई दिया, जिसे सुनकर फ़िरोज़ का विचार बदल गया। उसने बड़ी कठिनाई से प्राप्त की गई विजय को ठुकरा दिया। शाही सेनापति तातारख़ाँ ने फ़िरोज़ से जब यह निवेदन किया कि सारा प्रान्त साम्राज्य में मिला लिया जावे तो फ़िरोज़ ने उत्तर दिया कि सारा प्रान्त दलदल से पूर्ण है। इस प्रकार एक जीते हुए प्रान्त को फ़िरोज़ ने पुनः स्वतन्त्र होने दिया।

(अ) बङ्गाल पर आक्रमण।

सन १३५९-६० ई० में फ़िरोज़ ने पुनः बंगाल पर चढ़ाई करने के लिए सेना भेजी। इस समय बंगाल के प्रथम विद्रोही शासक फ़ख़रुद्दीन के एक सम्बन्धी ने तत्कालीन शासक के विरुद्ध फ़िरोज़ से कुछ सहायता माँगी थी। उसी की सहायता के लिए फ़िरोज़ ने सेना भेजी। किन्तु प्रथम आक्रमण के समय जो घटना घटी थी, उसी की पुनरावृत्ति इस बार भी हुई। इक़दाले के दुर्ग का घेरा लगाया गया, परन्तु दुर्ग हस्तगत नहीं किया जा सका। कुछ काल के बाद ऊबकर फ़िरोज़ ने बंगाल के शासक से सन्धि कर ली। इस बार अगर फ़िरोज़ कुछ दिन तक और घेरा डाले रहता तो बंगाल का सारा प्रान्त पुनः साम्राज्य के अन्तर्गत आ जाता। परन्तु फ़िरोज़ साम्राज्य भङ्ग के लिए देहली के आसन पर आरूढ़ हुआ था। उसकी ढीली ढाली नीति ने बंगाल के प्रान्त को स्वाधीन होने दिया और इस प्रकार अन्य अधीन प्रान्तों के सम्मुख बहुत ही बुरा आदर्श समुपस्थित किया।

कोई दस साल बाद सिन्ध को जीतने का विचार फ़िरोज़ के मस्तिष्क में आया। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि

(ग) सिन्ध पर आक्रमण।

"यह आक्रमण फ़िरोज़ के शासन-काल की एक मनोरञ्जक घटना है। उसकी मूर्खता तथा युद्ध-कौशल के पूर्ण अज्ञान का यह एक अच्छा नमूना है। वह स्वयं तो एक अच्छा सेनापति न था जिससे कि वह अपने पूर्वगामी महान् सम्राट्, अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुग़लक़ के समान प्रचण्डतापूर्वक युद्ध कर सके। उसकी अस्थिरता के तथा उसके धार्मिक

विचारों के कारण कई वार उसे पूर्ण विजय प्राप्त न हो सकी।"[१]

प्रथम वार जब फ़िरोज़ ने सिन्ध पर आक्रमण किया तो शत्रुओं को दुर्ग की शरण लेनी पड़ी, किन्तु रसद कम हो जाने के कारण फ़िरोज़ को गुजरात में लौट आना पड़ा। दूसरी वार नई सेना इकट्ठी करके फ़िरोज़ ने पुनः आक्रमण किया। किन्तु नदी पार करते समय सिन्धियों ने उसकी राह रोक दी। प्रवाह के कुछ ऊपर जाकर फ़िरोज़ ने नदी पार की, किन्तु दूसरी ओर पहुँचते ही भीषण युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध की भीषणता देखकर फ़िरोज़ का मन विचलित होगया। मुसलमान न मारे जावें इसी लिए उसने सेना को लौट आने की आज्ञा दे दी। देहली से अधिक सेना मँगवाने का प्रबन्ध किया। जब यह नई सेना आ गई तो शाही सेना की शक्ति वहुत वढ़ गई, जिससे सिन्धियों ने सन्धि कर ली। इस प्रकार कई वार अपनी निर्वलता के कारण फ़िरोज़ साम्राज्य की सेना-द्वारा प्राप्त विजय को ठुकरा कर, सारे किये कराये काम को मिट्टी कर देता था। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद का कथन है कि—"इस वार जो कुछ भी सफलता प्राप्त हुई, वह केवल शाही सेनापति तातारख़ाँ की वीरता और कौशल तथा फ़िरोज़ के योग्य मन्त्री खाजहाँ मक़बूल के समय पर सहायता देने का ही फल था।"[२]

---

१. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २६८।

२. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इंडिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७०।

फ़िरोज़ ने दक्षिणी विद्रोहियों के प्रति तो अँगुली भी नहीं उठाई। बहमनीराज्य को स्थापित होने दिया। "फ़िरोज़ के सेनापतियों ने कई बार उससे इस बात की आज्ञा माँगी कि वह उन्हें दौलताबाद पर चढ़ाई करने दे जिससे पुनः वहाँ देहली के शासकों की सत्ता स्थापित की जा सके किन्तु सुलतान ने दुःखपूर्ण दृष्टि से देखा और आँखों में आँसू भरकर कहा कि उसने इस बात का निश्चय कर लिया था कि वह कभी भी मुसलमानों पर आक्रमण नहीं करेगा।"[1]

(स) बहमनीराज्य के प्रति उसकी नीति।

फ़िरोज़ की दो तुच्छ विजयों का भी यहाँ उल्लेख किये देते हैं। जाज़नगर तथा नगरकोट पर फ़िरोज़ ने चढ़ाई की तथा उन्हें जीत लिया। इन आक्रमणों का कारण केवल यही था कि फ़िरोज़ नगरकोट की ज्वालामुखी देवी के तथा जगन्नाथपुरी के मन्दिरों को नष्ट कर देना चाहता था। दोनों स्थानों में जाकर उसने मूर्तियों को तुड़वा डाला और वहाँ के हिन्दू शासकों से अपनी अधीनता स्वीकार करवा ली।

(ड) दो तुच्छ विजयों का विवरण।

फ़िरोज़ की बाह्यनीति पूर्णतया विफल हुई, इस बात पर कभी भी दो मत नहीं हो सकते। इस विफलता के क्या कारण थे? इन कारणों को ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं। पहला कारण यह था कि फ़िरोज़ स्वयं

फ़िरोज़ की बाह्यनीति की विफलता के कारण।

---

१. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इंडिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७१। ईलियट और डासन—हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, खण्ड ३, पृष्ठ २४०।

शाही सेना का संचालन करता था। फ़िरोज़ को युद्ध-विद्या का बहुत ही कम ज्ञान था। पुनः मुहम्मद के समय के महान् योद्धाओं तथा कुशल सेनापतियों के कथन तथा उनके निवेदन की ओर वह ध्यान न देता था। अपने धार्मिक विचारों को आघात न पहुँचाने के लिए ही उसने कई वार विजयी सेना को लौट आने की आज्ञा दे दी। इस आज्ञा का विरोध कौन कर सकता था?

फ़िरोज़ की वाह्य नीति की विफलता का दूसरा कारण उसके धार्मिक विचार थे। फ़िरोज़ के धार्मिक विचार बहुत ही संकीर्ण थे, और वह उनका अक्षरशः पालन करता था। कई वार प्राप्त की गई विजय को ठुकरा कर फ़िरोज़ को यह आत्म-सन्तोष भले ही हुआ हो कि उसने अपने विचारों का परिपालन किया किन्तु इससे साम्राज्य को बहुत हानि पहुँची। दक्षिण में सद्यः स्थापित वहमनीराज्य पर भी उसने इन्हीं धार्मिक विचारों से कोई आक्रमण नहीं किया। विद्रोही सूबेदारों को स्वाधीन होने देना, तथा उनके विरुद्ध कुछ भी न करना, कहाँ तक साम्राज्य के हित में था?

इस विफलता का तीसरा कारण यह था कि फ़िरोज़ ने स्वयं तथा उसके अन्य किसी मंत्री ने भी वाह्य नीति की ओर अधिक ध्यान न दिया। नये देशों को जीतना तथा विद्रोही प्रान्तों को पुनः साम्राज्य के अन्तर्गत करना, साम्राज्य की नीति के अनुकूल न था। जाज़नगर, और नगरकोट के आक्रमण केवल धर्मान्धता को परिपूर्ण करने के लिए ही किये गये थे।

चौथा तथा अन्तिम कारण यह था कि फ़िरोज़ के सारे शासनकाल में फ़िरोज़ और उसके कर्मचारियों का प्रधान उद्देश्य

यही रहा कि बचे खुचे साम्राज्य को ही सुधारें। उनके विचारानुसार मुहम्मद ने सारे साम्राज्य को नष्ट भ्रष्ट कर डाला था। मुहम्मद की त्रुटियाँ तथा उसके पापों के प्रभाव को हटाना ही तत्कालीन शासकों का प्रधान उद्देश्य रहा। शासन की सारी नीति को बदल कर उसे धर्मप्रधान बनाने की ओर ही शासकों ने अपना पूर्ण ध्यान आकर्षित किया। अगर ऐसे समय बाह्य आक्रमणों की ओर ध्यान दिया जावे तो शासकों का ध्यान बट जावेगा और आन्तरिक सुधारों को करने में शिथिलता आ जावेगी। इसी आशङ्का से फ़िरोज़ ने बाह्य नीति की ओर अधिक ध्यान न दिया।

वाह्य नीति की विफलता के कुपरिणाम।

फ़िरोज़ की बाह्य नीति की विफलता का बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। प्रथम तो फ़िरोज़ ने स्वयं ही इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, और जब कभी उसने इस ओर कुछ भी ध्यान दिया तो उसकी अस्थिरता के कारण वह प्रायः विफल ही हुआ। अतः एक तटस्थ दर्शक को यही प्रतीत होने लगा था कि साम्राज्य की सैनिक शक्ति घट रही थी। भारत में सब ओर यह स्पष्टतया दिखाई देने लगा कि साम्राज्य का पतन शीघ्र ही होगा। स्वतन्त्र होने के लिए अब उपयुक्त समय आगया था, यह धारणा प्रत्येक सूबेदार के हृदय में उत्पन्न होने लगी। महत्त्वाकांक्षी पुरुष भी साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाने के लिए प्रयत्न करने लगे। अज्ञातरूप से साम्राज्य-भङ्ग का बीज बोया गया था, वही अब धीरे धीरे अंकुरित होकर पृथ्वी में अदृष्टरूप से फैलने लगा। बढ़ते बढ़ते यह इतना फैला कि सन् १३८८ ई० में एकाएक पृथ्वीतल पर

दिखलाई पड़ा और एकबारगी भारतीय मुस्लिम साम्राज्य को इसने उखाड़ डाला।

साम्राज्य एक दिन में भङ्ग नहीं होते। संसार के प्रत्येक देश का इतिहास उपरोक्त कथन को सत्य साबित करता है, किन्तु भारत में सन् १३८८ ई० में बिलकुल इसके विपरीत ही दृश्य दिखाई पड़ा। ज्यों ही फ़िरोज़ की मृत्यु हुई, साम्राज्य का पूर्ण पतन हो गया। ऊपरी रीति से दिखाई पड़नेवाले इस अयुक्ताभास का स्पष्टीकरण यों ही किया जा सकता है कि फ़िरोज़ के शासनकाल से ही साम्राज्य भङ्ग होने लगा था। अन्दर ही अन्दर साम्राज्यरूपी वृक्ष खोखला होगया, अतः जब फ़िरोज़ की मृत्यु के अनन्तर उसका कोई सहारा न रहा तो एक ही झोंके में वह वृक्ष धराशायी हो गया।

पुनः यद्यपि हिन्दुओं के प्रति अत्याचार किये गये, उनके प्रति धार्मिक विचारों से असहिष्णुता का बर्ताव किया गया, किन्तु फ़िरोज़ का निर्बल शासन, हिन्दुओं की बढ़ती हुई सत्ता पर अधिक प्रभाव नहीं डाल सका। सुदूर दक्षिण में स्थापित विजयनगर साम्राज्य तथा राजस्थान के स्वाधीन राजपूतों के उदाहरण से, हिन्दुओं के हृदय में एक नवीन उत्साह का संचार हुआ। साम्राज्य की अव्यवस्थित दशा से लाभ उठाने के लिए वे तैयार होगये। फ़िरोज़ की निर्बल बाह्य नीति को देखकर हिन्दू निकटभविष्य में ही पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त करने का स्वप्न देखने लगे।

फ़िरोज़ की बाह्य नीति क्या थी, केवल विद्रोही सूबेदारों पर किये गये विफल आक्रमणों की कहानी थी। जब कई एक प्रान्त स्वतन्त्र हो गये और उन्हें फ़िरोज़ अपने अधीन न कर सका,

और कुछ राज्यों के विरुद्ध जब फ़िरोज़ ने अँगुली तक न उठाई तब तो अन्य सूबेदारों के सम्मुख उसने एक बहुत ही हानिकारक उदाहरण समुपस्थित किया। अन्य सूबेदार जो स्वतन्त्र होने की इच्छा करते थे, वे उस सुअवसर को ताक में बैठे रहे जब वे देहली-साम्राज्य से अलग होकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर सकेंगे।

इस प्रकार फ़िरोज़ की बाह्य नीति की विफलता ने निकट-भविष्य में साम्राज्य के पतन को अवश्यम्भावी बना दिया।

इस बात का पहिले ही उल्लेख किया जा चुका है कि क्योंकर फ़िरोज़ के सिंहासनारूढ़ होते ही धर्मप्रधान शासन का प्रारम्भ हुआ, मुहम्मद के समय में सत्ता से च्युत धर्माधिकारी क्योंकर पुनः सत्ताधारी हुए, तथा क्योंकर फ़िरोज़ धर्माधिकारियों का बेदाम का गुलाम हो गया। अब हम इस बात का उल्लेख करेंगे कि इस धर्मप्रधान नीति का अनुसरण करने में फ़िरोज़ ने शासन-नीति में क्या क्या परिवर्तन किये।

फ़िरोज़ की धर्मनीति।

धर्म ही अब सर्वप्रधान वस्तु थी। शासन को धर्म के अनुकूल बनाने के लिए, फ़िरोज़ तथा उसके दूसरे कर्मचारियों ने कुछ भी न उठा रखा। अपना सारा ध्यान उन्होंने इसी ओर बनाये रखा, और इसी कारण बाह्य नीति, आदि की ओर भी अधिक ध्यान न दिया। धर्मान्ध धर्माधिकारी तथा फ़िरोज़, शासन को धर्मप्रधान बनाने में लगे थे। इस प्रवृत्ति को दूसरी ओर परमावधि तक जाने से रोकने के लिए कोई भी अवरोध अब न रहा। धार्मिक विचारों का प्रभाव इतना सर्वव्यापी था कि जिन बातों पर

तब तक कभी भी यह प्रभाव न पड़ा था, वहाँ भी अब इसका प्रभाव पड़ने लगा। युद्धों में भी इन बातों का विचार किया जाना उपरोक्त कथन का एक विशेष उदाहरण है। सेना-संगठन में भी धार्मिक बातों का विचार किया जाने लगा।

फ़िरोज़ ने जिस धर्मनीति को ग्रहण किया, उसके अनुसार सुन्नी मुसलमानों के अतिरिक्त किसी भी अन्य पुरुष के प्रति सहिष्णुता नाम-मात्र को भी नहीं वर्ती जाती थी। हिन्दुओं पर पुन: जज़िया लगाया गया। फ़िरोज़ के समय तक ब्राह्मणों से कभी भी जज़िया वसूल नहीं किया गया था, किन्तु फ़िरोज़ ने उन्हें भी न छोड़ा। उस समय हिन्दुओं ने कुछ नये मन्दिर बनाये थे, उन्हें तुड़वा कर ही फ़िरोज़ को चैन आया। मन्दिर बनाने के अपराध पर ही कई एक हिन्दुओं को मृत्यु-दण्ड दिया गया। कई शिया मुसलमानों को भी जान से हाथ धोना पड़ा। उनके धर्मग्रन्थ जलवा डाले गये। एक पुरुष अपने को मेहदी घोषित करने लगा था, उसको जला डाला। हिन्दुओं तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों को दबाने के लिए, जो जो अत्याचार किये गये, उन सबका उल्लेख करके हम इस पुस्तक को कलंकित बातों का आगार नहीं बनाना चाहते।

अपने पूर्वगामी कई बादशाहों की प्रारम्भ की गई कई प्रथायें फ़िरोज़ को धर्म-विरुद्ध प्रतीत हुईं; उनका फ़िरोज़ ने अन्त कर डाला।

मुसलमानों की संख्या बढ़ाने के लिए फ़िरोज़ ने अनेक प्रयत्न किये। अन्य धर्मावलम्बी इस्लाम ग्रहण कर लें इस

उद्देश्य से उसने बहुतों पर दबाव डाला और बहुतों को लालच देकर फुसलाया। फ़िरोज़ ने यह घोषित किया कि जो हिन्दू मुसलमान बन जावेंगे उनसे जज़िया वसूल नहीं किया जावेगा। जो कोई इस कारण मुसलमान बना उसे फ़िरोज़ ने पुरस्कार दिया, कई को उसने उच्च पद भी दिये। उसने क़ब्रों और मसजिदों के लिए जागीरें भी निकाल दीं।

उपरोक्त धर्मनीति साम्राज्य के लिए घातक साबित हुई। सर्वप्रथम दुष्परिणाम यह हुआ कि हिन्दू लोग साम्राज्य के वैरी होगये। उनकी सत्ता पहिले ही बढ़ रही थी, अब उन्होंने अपनी सारी शक्ति साम्राज्य को भङ्ग करने में लगा दी। जिन हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया था, उनका अन्य हिन्दुओं से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था। यद्यपि उन्होंने इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लिया था, फिर भी उनकी सहानुभूति हिन्दुओं के साथ ही बनी हुई थी। इन नये मुसलमानों में से कई साम्राज्य के ऊँचे ऊँचे पदों पर पहुँच गये। अतः यद्यपि प्रारम्भ में मुसलमानों की संख्या बढ़ गई किन्तु इस संख्यावृद्धि से साम्राज्य की शक्ति न बढ़ी। ये नये मुसलमान साम्राज्य की धर्मप्रधान नीति से सहमत नहीं थे। अतः जो कुछ शक्ति इन्हें प्राप्त होती थी, जो कोई प्रान्त या सूबे इनके अधिकार में आते थे, उनका उपयोग ये पदाधिकारी साम्राज्य के विरुद्ध ही करते थे।

फ़िरोज़ की धर्मनीति के दुष्परिणाम।

पुनः इस एकीकरणकाल के विरुद्ध, इस धर्मप्रधान शासन के विरुद्ध, विरोध का एक प्रबल प्रवाह उमड़ रहा था।

ज्वालामुखी की तरह अदृष्टरूपेण साम्राज्य के विरुद्ध असन्तोष की आग जल रही थी। जब तक फ़िरोज़ जीवित रहा यह आग दबी रही किन्तु उसकी मृत्यु के साथ ही घोर शब्द के साथ साम्राज्य फट पड़ा, और सब प्रान्तों में अराजकता का भीषण विध्वंसकारी लावा फैल गया। उन्नतिशील शासन को नष्ट करके धर्माधिकारियों ने जिस धर्मप्रधान शासन को स्थान दिया था, उसी धर्मप्रधान शासन ने साम्राज्य का अन्त कर दिया।

उसके आन्तरिक सुधारों तथा शासन के ही आधार पर कई इतिहासकार फ़िरोज़ को एक महान् सम्राट् समझते हैं, अतः इस पर भी कुछ विचार करेंगे।

फ़िरोज़ का आन्तरिक शासन।

इससे पहले कि फ़िरोज़ के आन्तरिक शासन की प्रधान घटनाओं पर विचार करें हम उन सिद्धान्तों पर कुछ दृष्टि डालेंगे, जिनके आधार पर शासन संगठित किया गया था।

फ़िरोज़ का सारा शासन धर्मप्रधान था। उसकी सारी नीति तथा आन्तरिक शासन के सारे सिद्धान्त क़ुरान की आज्ञाओं पर स्थित थे।

आन्तरिक शासन के सिद्धान्त

करों की संख्या, न्यायशासन आदि सब कुछ क़ुरान के आज्ञानुसार ही रखे गये। सारे शासन-संगठन में मुसलमानों को प्राधान्य दिया गया। प्रत्येक बात में उन्हें विशेष अधिकार दिये गये।

फ़िरोज़ के शासन में कई एक सार्वजनिक कार्य किये गये, किन्तु इनसे केवल एक कक्षाविशेष को ही लाभ होता था। महान सम्राट् मुहम्मद की नीति के अनुसार साम्राज्य

का हित ही सर्वोपरि था, ऐसे स्थानों पर धार्मिक भिन्नता का विचार नहीं किया जाता था। किन्तु फ़िरोज़ ने पूर्णतया इस नीति के विपरीत कार्य किया। इस्लाम-धर्म ही उसके लिए सर्वप्रधान बात थी; साम्राज्य के हित का विचार नाममात्र को भी उसे नहीं रहता था। केवल एक धर्मविशेष के अनुयायियों को ही लाभ पहुँचाना फ़िरोज़ का तथा उसकी नीति का प्रधान उद्देश्य था। फ़िरोज़ के विचारानुसार केवल सुन्नी मुसलमानों ही के लाभ के लिए साम्राज्य स्थित था। "साम्राज्य" शब्द का अर्थ भी संकुचित होगया, और अब इस शब्द से केवल मुस्लिम प्रजा का ही निर्देश होता था।

सार्वजनिक प्रोग्राम ने क्योंकर फ़िरोज़-द्वारा निर्धारित नीति में स्थान पाया, यह बात भी विचारणीय है। सेनाप्रधान शासन-काल में शासक सार्वजनिक लाभ पहुँचाना अपना कर्तव्य नहीं समझते थे। किन्तु जब उन्नतिशील नीति का प्रारम्भ हुआ तो धीरे धीरे सार्वजनिक हित के लिए कुछ कार्य करने को भी शासकों के कर्तव्यों में स्थान मिला। मुहम्मद ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। जब उन्नतिशील नीति का पतन हुआ तब भी इस नीति को साम्राज्य को नीति में से नहीं निकाला गया। इसके दो कारण थे। प्रथम तो मुहम्मद के शासन-काल में उस महान् शासक के हाथ के नीचे काम करते करते फ़िरोज़ के मस्तिष्क में यह बात जँच गई थी कि सार्वजनिक लाभ के लिए कुछ कार्य करना आवश्यक था। जिन कार्यों से किसी भी प्रकार प्रजा के दुखों का अन्त किया जा सके, उसकी कठिनाइयों को घटाया जा सके, ऐसे कार्य

करना शासक के लिए आवश्यक है, यह बात फ़िरोज़ के मस्तिष्क में अंकित हो चुकी थी। दूसरा कारण यह था कि क़ुरान भी इन विचारों से सहमत थी। अतः फ़िरोज़ ने मुहम्मद की इस सार्वजनिक नीति को पूर्णतया नष्ट नहीं किया। किन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है दोनों शासकों के उद्देश्यों में पूर्णतया विभिन्नता थी। मुहम्मद ने अपनी सारी प्रजा के हित के लिए, वे चाहे जिस धर्म के अनुयायी क्यों न हों, अपना सार्वजनिक प्रोग्राम बनाया था। किन्तु फ़िरोज़ ने केवल मुसलमानों को और उनमें भी केवल सुन्नियों को ही लाभ पहुँचाना अपना उद्देश्य समझा।

फ़िरोज़ के आन्तरिक सुधारों के विषय में एक और ज्ञेय बात यह है कि उसके सारे सुधार अचिरस्थायी हुए। जिस नींव पर वे सुधार स्थित थे, वह बहुत ही कच्ची थी। धार्मिक नीति ही इन सब सुधारों का आधार थी। अतः जब एकीकरणकाल के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, और यह नींव हिल गई, तो साथ ही साथ इन सुधारों का भी अन्त होगया। ऊपरी दृष्टि से फ़िरोज़ के कई सुधार बहुत ही उदार तथा महान् दिखाई पड़ते हैं, किन्तु फ़िरोज़ के संकीर्ण दृष्टिकोण तथा उसके धार्मिक विचारों और धार्मिक पक्षपात के कारण ये सुधार साम्राज्य के लिए अहितकर हुए।

फ़िरोज़ के अचिरस्थायी सुधार।

फ़िरोज़ की आन्तरिक नीति के विषय में अन्तिम जानने योग्य बात यह है कि यद्यपि ऊपरी दृष्टि से ये सुधार बहुत ही अच्छे दिखाई पड़ते हैं, किन्तु यदि इन पर पूर्णरूप से विचार किया जावे, उसकी नीति का विश्लेषण करके, उसके प्रभावों

पर विचार करें तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि अन्य कारणों के साथ ही फ़िरोज़ की आन्तरिक नीति भी साम्राज्य के पतन का एक महान् कारण हुई। फ़िरोज़ के भिन्न-भिन्न सुधारों का इतना बुरा परिणाम हुआ कि उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य का संगठित रहना कठिन हो गया।

(अ) जागीरप्रथा का प्रारम्भ तथा उसका दुष्परिणाम।

फ़िरोज़ के शासन की प्रथम नवीनता जागीर-प्रथा का पुनः स्थापित करना था। अलाउद्दीन ने इस प्रथा का अन्त कर दिया था। उसे प्रतीत हुआ कि इस प्रथा से साम्राज्य की एकता में कमी होने की आशङ्का रहती थी। मुहम्मद तुग़लक़ भी इस प्रथा का विरोधी ही रहा। मुग़लों के प्रारम्भिक काल में भी अकबर ने इस प्रथा का अन्त कर दिया था। किन्तु फ़िरोज़ ने इस प्रथा को पुनः आरम्भ किया। सारा साम्राज्य भिन्न-भिन्न जागीरों में बाँटा गया। भिन्न-भिन्न कर्मचारियों को जागीरें दी गईं। इन ज़मींदारों ने बहुत-सा द्रव्य बटोर लिया, और वे अर्धस्वतन्त्र के समान हो गये।

इस प्रथा का पुनः आरम्भ करना साम्राज्य के लिए बहुत ही अहितकर हुआ। साम्राज्य के भङ्ग होने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। भारत का मध्यकालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब जब जागीर-प्रथा का प्रारम्भ किया गया, साम्राज्य के भङ्ग होने में अधिक समय नहीं लगा। मुग़ल-साम्राज्य के अन्तिम दिनों में जब देहली के निर्बल सम्राटों ने जागीरें देना प्रारम्भ कर दीं, और अपने उन्नत दिनों में जब पेशवाओं ने भी जागीरें बाँटीं तब शीघ्र ही इन साम्राज्यों का अन्त होगया। जागीर-प्रथा के

परिणामस्वरूप ये जागीरदार अर्धस्वतन्त्र होकर, स्वतन्त्र होने के लिए अवसर ताकते रहते थे; और जब कभी केन्द्रीय शासन में नाम-मात्र को भी ढिलाई आती थी, वे स्वतन्त्र होने के प्रयत्न से नहीं चूकते थे।

जागीर-प्रथा का दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि इन जागीरदारों को विद्रोह करने की सूझती थी। अपनी उदर-पूर्ति का प्रश्न इन्हें नहीं सताता था, वे सुखपूर्वक बैठे षड्यन्त्र रचा करते थे। जागीरदार शक्तिशाली होकर यही सोचा करते थे कि क्योंकर वे अपनी सत्ता को बढ़ावें। इसी कारण फ़िरोज़ के अन्तिम दिनों से ही ये षड्यन्त्र तथा विद्रोह रचे जाने लगे थे। कई एक शक्तिशाली अमीर इस ताक में बैठे रहते थे कि क्योंकर वे साम्राज्य की नीति को निर्धारित कर सकें, अतः वे सम्राट् को अपनी मुट्ठी में करने के लिए प्रयत्न करते रहे, और इसी कारण फ़िरोज़ की मृत्यु के बाद गृह-कलह आरम्भ हुआ जिसका साम्राज्य पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा।

जागीर-प्रथा का तीसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि कर्मचारी अकर्मण्य तथा अयोग्य होगये। पैतृक जागीरें प्राप्त हो जाने के कारण वे अब सुखपूर्वक भोजन करते थे। अब उनके लिए यह आवश्यक न रहा कि वे उदरपूर्ति के लिए योग्य बनें। योग्यता प्राप्त करने के लिए उन्हें कोई प्रेरणा न होती थी। सुस्त, निर्बल, अयोग्य कर्मचारियों के हाथ में रह कर साम्राज्य कितने दिन तक टिक सकता था?

फ़िरोज़ ने कृषि तथा लागान की ओर भी ध्यान दिया। पृथ्वी की कक्षा नियत करने के अनन्तर लागान की दर निश्चित की गई। पुनः जिन व्यक्तियों ने बिना आज्ञा के सरकारी ज़मीन दबा ली थी, जाँच-पड़ताल करने के बाद, वह छीन ली गई और जिन्हें इस बात की शिकायत थी कि उस ज़मीन पर उनका अधिकार था, उनसे कहा गया कि वे न्यायालयों में जाकर अपना अधिकार स्थापित करें।

(ब) कृषि तथा लागान-सम्बन्धी सुधार।

कृषि-सुधार के लिए भी प्रयत्न किये गये। अकाल पड़ने पर भी कृषि को हानि न हो इस उद्देश्य से उसने बड़ी बड़ी नहरें बनवाईं। जब नहरों के कारण पानी का बाहुल्य होगया तो बहुत सी ऐसी ज़मीन जिस पर अब तक खेती नहीं होती थी जोती जाने लगी। नई जोती हुई ज़मीन के लागान से जो आमदनी होती थी, वह विद्वानों पर व्यय की जाती थी। फ़िरोज़ ने हज़ारों बड़े बड़े बाग़ लगवाये और उनमें फलों के वृक्षों का बाहुल्य था।

इन सुधारों के लिए फ़िरोज़ की प्रशंसा अवश्यमेव की जानी चाहिए। इस तरह फ़िरोज़ ने भारत को बहुत लाभ पहुँचाया। पहला लाभ तो यह हुआ कि प्रायः सारा उत्तरी भारत आबाद होगया। धान्य का बाहुल्य होगया। दूसरे फ़िरोज़ द्वारा निर्मित नहरों ने भारत का चिरस्थायी उपकार किया। जो उपजाऊ ज़मीन आज तक नहीं बोई जाती थी, वह भी अब बोई जाने लगी। फ़िरोज़ ने दोहरी आमदनी बढ़ाई, एक तो नई जोती हुई ज़मीन से, दूसरे इन नहरों से पानी लेनेवालों पर कर लगा कर। अब उत्तरी भारत से अकाल का बहुत

कुछ डर चला गया। प्रजा सुखी हुई तथा धान्य आदि खाद्य-वस्तुओं की क़ीमत घट गई। बाग़ों से भी साम्राज्य को बहुत कुछ आमदनी हो जाती थी।

फ़िरोज़ ने कर लगाने के नियमों में भी फेरफार कर दिया। मुहम्मद के समय में करों की संख्या बहुत थी।

(ग) कर लगाने की पद्धति।

फ़िरोज़ ने इस विषय में क़ुरान की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया और करों की संख्या घटा कर केवल चार—ख़िराज, ज़कात, जज़िया और ख़ास—कर दी। नहरों से आबपाशी करनेवाले व्यक्तियों से जो कर लिया जाता था, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह कर खेत की उपज के १/१० भाग की दर से लगाया जाता था। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि—"कर लगाने की इस पद्धति का देश पर अच्छा प्रभाव पड़ा, तथा इससे व्यापार और कृषि में बहुत वृद्धि हुई।"[१]

युद्ध में प्राप्त लूट के माल का विभाग भी क़ुरान के नियमानुसार ही किया जाता था। १/५ शाही ख़ज़ाने में जाता था, बाक़ी ४/५ सैनिकों में बाँट दिया जाता था।

जब सारे साम्राज्य में जागीर-प्रथा का प्रचार किया गया तो सेना का संगठन भी इसी प्रथा के अनुसार ही किया गया।

(ङ) सेना-संगठन

प्रत्येक सैनिक के लिए यह आवश्यक था कि वह राज्य-द्वारा निश्चित नियमों के अनुसार एक घोड़ा रखे। प्रत्येक सेनापति के लिए सुसज्जित सैनिकों की एक संख्या निश्चित थी। उनके लिए सैनिकों

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया द्वितीय संस्करण, २७३।

तथा सेनापतियों को जागीरें दी जाती थीं। जिन्हें जागीरें नहीं दी गईं, उन्हें स्थानविशेषों की आमदनी इकट्ठा करने का अधिकार दे दिया गया।

सैनिकों के प्रति दयापूर्ण बर्ताव किया जाता था, तथा उनके लिए सर्व प्रकार के सुखों का प्रबन्ध किया जाने लगा। किसी कारणविशेष से, वृद्धावस्था या रोगी होने के कारण, कोई सैनिक यदि सेना में कार्य नहीं कर सकता था तो वह अपने स्थान पर अपने किसी दूसरे सम्बन्धी या किसी नौकर या ग़ुलाम को भेज सकता था।

परन्तु सेनासंगठन का यह प्रबन्ध साम्राज्य के लिए बहुत ही हानिकारक हुआ। जागीर-प्रथा के अनुसार सेनासंगठन करने से अब सेना में पहले की सी एकता न रही। पुनः जब कभी किसी भी जागीरदार या दो या अधिक जागीरदारों ने मिलकर विद्रोह किया तो उन जागीरदारों-द्वारा शाही सेना में सैनिकों के भेजे जाने की जो शर्त थी वह कभी भी पूरी नहीं हो सकती थी। शाही सेना की संख्या में कमी हो जाती थी; क्योंकि उन सैनिकों का सम्बन्ध उनके शासक या जागीरदार से था, शाही सेना से उन सैनिकों का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। जब सैनिकों पर ही यह कार्य छोड़ा जाता था कि वे अपने लिए घोड़े का प्रबन्ध करें, तो वे साधारण से साधारण घोड़ा रख कर भी काम चला लेते थे, जिसका शाही सेना की शक्ति तथा कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता था। यह सत्य है कि इस प्रकार के गड़बड़ न होने देने के लिए फ़िरोज़ ने सर्वप्रकार के प्रबन्ध किये थे, किन्तु फिर भी यदि निरीक्षक घूस लेने लगते तो कोई भी पूछनेवाला न था।

यह निश्चित सा दिखाई दे रहा था कि निर्वल शासकों के सिंहासनारूढ़ होते ही जब जागीरदार या सूबेदार स्वतन्त्र होने के प्रयत्न करेंगे उस समय शाही सेना नाम-मात्र को रह जावेगी।

पुनः सैनिकों के प्रति दया दिखाना, उनके लिए सर्व-प्रकार के सुखों का प्रवन्ध करना, सेना के लिए पूर्णतया हानिकारक था। वे सैनिक, जिन्हें कठिनाइयाँ सहना, तथा कठोर जीवन विताना चाहिए था, सुख और ऐश्वर्य के सागर में गोते लगाने लगे जिससे उनकी युद्ध-क्षमता वहुत घट गई। वृद्ध, रोगी आदि सैनिकों को उनके स्थान पर दूसरा आदमी भेजने की आज्ञा देने से शाही सेना को दुहरी हानि पहुँची। प्रथम तो, पुराने कई युद्धों में लड़े हुए वीर सैनिक तथा सेनापति अब सुख-पूर्वक घर वैठ गये। नये योद्धाओं को अनुभव न था, जिससे सेना की युद्ध-क्षमता में कमी आगई। दूसरी हानि यह हुई कि इससे सैनिकों को अधिक सुख मिला। सैनिकों के लिए सुख तथा ऐश्वर्य में दिन विताने का विचार भी हानिकारक होता है। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि—"यद्यपि पुराने सेनापतियों ने वहुत कहा, फिर भी उस निर्वल शासक के उदार विचार का परिपालन करने में शाही सेना की युद्ध-क्षमता वनाये रखने की परवाह नहीं की गई।"[1] शाही सेना की युद्ध-क्षमता और रण-कौशल वहुत घट गया। विशेषतया ऐसे समय में जब कि साम्राज्य के भङ्ग होने के लक्षण स्पष्ट दिखाई दे रहे थे और सब प्रान्तों के हिन्दुओं की शक्ति का पुनरुत्थान हो रहा था, सेना को

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया द्वितीय संस्करण. पृष्ठ २७९।

निर्बल बनाना, फ़िरोज़ की महान् अदूरदर्शिता प्रदर्शित करता है। मध्यकाल में साम्राज्य की नींव सैनिक-क्षमता पर ही स्थित थी। उन दिनों सैनिक-क्षमता को घटाना, साम्राज्य को नष्ट करने के समान था। इस तरह फ़िरोज़ ने सेना को ऐश्वर्य और विलास का प्याला पिलाकर भारतीय मुस्लिम साम्राज्य को नष्ट किया। क्योंकर साम्राज्य के शासक ऐश्वर्य और विलास के सागर में ग़ोता लगाकर आत्मघात करते हैं, आँखों देखते वे विष का प्याला पी जाते हैं, इसका इससे अधिक अच्छा उदाहरण कहाँ मिलेगा।

(य) न्याय-शासन।

मुहम्मद की न्याय-प्रियता का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। किन्तु उसकी मृत्यु के अनन्तर उस पद्धति का भी अन्त होगया। पहले न्याय-शासन में हिन्दुओं तथा मुसलमानों में कोई भेद नहीं माना जाता था; किन्तु धर्मप्रधान शासन में क़ाज़ियों का ही बोलबाला था, उनका न्याय पक्षपात-पूर्ण हो गया। न्याय-शासन का अधिकार पुनः प्राप्त करके क़ाज़ियों तथा अन्य धर्माधिकारियों ने क़ुरान के नियमानुसार ही न्याय करना प्रारम्भ कर दिया।

फ़िरोज़ ने एक ऐसा सुधार किया जो मानव-समाज के लिए बहुत वाञ्छनीय था। उस समय तक भारत में भी तत्कालीन युरोप के समान ही अपराधी से अपराध मंज़ूर करवाने के लिए उसके साथ बहुत ही भीषण रोमांचकारी अत्याचार किये जाते थे। फ़िरोज़ ने इस प्रथा का अन्त कर दिया। उसने दण्ड देने की भी कई निर्दयतापूर्ण रीतियों को मिटा दिया। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद का कथन है कि—"फ़िरोज़ ने इस प्रकार

जो दया दिखाई उसका दुरुपयोग भी हुआ और कई अपराधी विना दण्ड पाये ही छूट गये।"[1]

फ़िरोज़ ने दासप्रथा को भी वहुत उत्तेजना दी। उसके समय में दासों की संख्या वहुत बढ़ गई। भिन्न भिन्न सूबेदारों तथा भिन्न भिन्न प्रान्तों के शासकों को यह आज्ञा दी गई थी कि जो कोई दास उन्हें मिल सके, उसे देहली भेज दें। इन दासों को शाही ख़ज़ाने से वेतन मिलता था, और उसके वदले में उनसे काम लिया जाता था। जव दासों की संख्या वहुत वढ़ गई तो उनके प्रवन्ध के लिए विशेष विभाग नियत किया गया।

(क) दास-प्रथा, और उसके दुष्परिणाम।

साम्राज्य के भंग होने के भिन्न भिन्न कारणों में से एक कारण फ़िरोज़ की यह दासप्रथा भी है। ये दास भिन्न भिन्न पदों पर नियत किये जाते थे और वढ़ते बढ़ते कई प्रान्तों के शासक भी वन गये। ये दास प्राय: हिन्दू होते थे जो या तो वलपूर्वक या फुसलाकर मुसलमान बनाये जाते थे। इनकी सहानुभूति हिन्दुओं के साथ ही होती थी। अत: इनका उच्च पदों पर स्थित होना साम्राज्य की सत्ता को घटाता था। दूसरे इन दासों का साम्राज्य के प्रति कोई भी प्रेम नहीं था। अगर इनका किसी भी व्यक्ति के लिए कुछ भी विचार था तो वह केवल फ़िरोज़ के लिए। अत: यह अवश्यम्भावी था कि फ़िरोज़ की मृत्यु पर ये दास-सूवेदार या दास-कर्मचारी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए या अपनी स्वार्थ-

---

१. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७६।

पूर्ति के लिए साम्राज्य को भङ्ग करने में नाम-मात्र को भी न हिचकेंगे। इस प्रकार साम्राज्य के भङ्ग होने का एक और कारण अनजाने ही पैदा किया गया।

फ़िरोज़ ने ग़रीबों की सुविधा के लिए आधे और पाव जीतल के मूल्य के ताँबे और चाँदी के मिश्रित सिक्के बनवाये। फ़िरोज़ के समय में टकसाल का प्रबन्ध बहुत अच्छा नहीं था।

(ज) मुद्रापद्धति में सुधार।

फ़िरोज़ के सार्वजनिक कार्यों के उद्देश्यों आदि का कुछ उल्लेख पहले ही किया जा चुका है, यहाँ उन कार्यों पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है। फ़िरोज़ ने ग़रीब मुसलमानों को सहायता देने का प्रबन्ध किया और जो मुसलमान कार्य कर सकते थे, उनसे उचित कार्य भी लिया जाने लगा। दरिद्री मुसलमानों की लड़कियों के विवाह के लिए भी शाही ख़ज़ाने से सहायता दी जाती थी। दरिद्री मुसलमानों को इस प्रकार बहुत सहायता मिलती थी।

(ह) फ़िरोज़ के सार्वजनिक कार्य।

फ़िरोज़ ने एक अस्पताल भी खोला, जहाँ बड़े ही योग्य हकीम काम करते थे तथा रोगियों को मुफ़्त दवा बाँटी जाती थी। जो यात्री दूर देशों से भारत में तीर्थ करने के लिए आते थे, उनकी सुविधा के लिए भी प्रबन्ध किया जाता था।

फ़िरोज़ के धर्मसम्बन्धी संकीर्ण विचारों का एक नमूना और देख लीजिए। उसको सूझी कि जिन जिन पुरुषों को मुहम्मद से हानि पहुँची थी, उन्हें उस हानि के बदले में बहुत कुछ द्रव्य दे-दिला कर उनसे यह लिखवा लिया जाय

मुहम्मद की आत्मा का उद्धार।

कि अब स्वर्गीय सम्राट् के प्रति उनका कुछ भी प्रतिपक्ष नहीं है। फ़िरोज़ समझता था कि यों वह मुहम्मद की आत्मा का नरक से उद्धार कर सकेगा। पोपों द्वारा बाँटे जानेवाले Indulgences इंडलजन्सेस तथा फ़िरोज़-द्वारा प्राप्त इन प्रमाणपत्रों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है।

विद्वानों का आदर तथा शिक्षा-प्रचार।

फ़िरोज़ विद्वानों का भी बहुत आदर करता था। उनकी सहायता भी करता था। विद्याप्रचार के लिए कई एक पाठशालाएँ भी खोलीं, जहाँ विद्यार्थी पढ़ा करते थे। इन पाठशालाओं में पढ़ाने के लिए बड़े बड़े विद्वान् नियुक्त थे, जिनमें से कई नाम आज तक प्रख्यात हैं। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि—"अब्राश्चेज के व्याख्यान-भवन तथा बेक और केय के विहारों के पाठशालाओं में पढ़ानेवाले पादरी लेफ्रेंज और उसके विद्यार्थियों के समान ही इन पाठशालाओं में पढ़नेवाले मुसलमान विद्यार्थियों ने अपना पूरा समय धार्मिक बातों के अध्ययन में ही बिताया। इनका दृष्टिकोण इतना संकीर्ण तथा संकुचित होगया, कि अब वे संकुचित धर्म के पूर्ण समर्थक होगये।"[1] जो विद्यार्थी इन पाठशालाओं से पढ़कर निकलते थे वे अपने विषय में पारंगत होते थे, और यद्यपि उनका दृष्टिकोण संकीर्ण होता था, फिर भी उनकी विद्वत्ता में कोई आशंका नहीं की जा सकती थी। इन्हीं विद्वानों के द्वारा भारतीय मुसलमानों में धर्मान्धता का प्रचार हुआ और इन्हीं व्यक्तियों ने उन धार्मिक सिद्धान्तों को जन्म

---

१. ईश्वरीप्रसाद:—मेडीवल इण्डिया द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८०।

दिया, जिनके अनुसार धार्मिक असहिष्णुता ही इसलाम धर्म का प्रधान अंग समझी जाने लगी।

फ़िरोज़ भारत के उन प्रारम्भिक सम्राटों में से था, जिनके शासन-काल में धीरे धीरे एक नवीन कला का उद्भव हुआ, और जो कला मुग़लकाल में जाकर पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हुई। फ़िरोज़ के समय हिन्दू-मुसलिम शिल्पकला का विकास हो रहा था और उसने उसके इस विकास में बहुत सहायता दी। फ़िरोज़ ने कई शहर बसाये। जौनपुर, फ़िरोज़ाबाद, फ़तेहाबाद, आदि शहरों का बसानेवाला फ़िरोज़ ही था। कई एक मसजिदें, भवन, तथा सड़कों पर स्थान स्थान पर सरायें आदि बनायी गयीं। प्रत्येक भवन आदि के निर्माण के पहले उसका नक़शा दीवान-इ-वज़ारत के महकमे में पेश होता था। आधुनिक काल में पुराने खँडहरों की मरम्मत तथा उनको बनाये रखने के लिए जो कार्य लार्ड कर्ज़न ने किया, उसी प्रकार का बहुत कुछ कार्य फ़िरोज़ ने भी किया। फ़िरोज ने कई एक पुराने भवनों की मरम्मत करवाई।

फ़िरोज़-द्वारा निर्माण किये गये भवन आदि।

फ़िरोज़ ने इस प्रकार साम्राज्य की नीति को बदला। मुहम्मद तुग़लक़ की उन्नतिशील नीति को धर्मप्रधान शासन-नीति में परिवर्तित किया। इस परिवर्तन में फ़िरोज़ के प्रसिद्ध विश्वस्त मन्त्री खाँ-इ-जहाँ मक़बूल का भी हाथ था। जब कभी फ़िरोज़ दूर देशों में जाता था, तब राज्य का सारा कार्य इसी मन्त्री के हाथ में छोड़ जाता था। सन् १३७० ई०

में उसकी मृत्यु होगई तो उसके लड़के को उसके पिता का ख़िताब देकर उसी के पद पर नियुक्त कर दिया।

अपने राज्य-शासन को धर्मप्रधान बनाकर फ़िरोज़ धीरे धीरे मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा था। सारी सत्ता मन्त्री के हाथ में थी। राज्य-सत्ता के मद से उन्मत्त होकर मन्त्री इस बात का प्रयत्न करने लगा कि शाहज़ादे मुहम्मद को अपनी राह से हटा दे, किन्तु ये सारे प्रयत्न विफल हुए, मन्त्री का पतन हुआ। शाहज़ादा मुहम्मद अब सारे राज्य का कार्य देखने लगा। परन्तु ऐसे सुखपूर्ण स्थान में रह कर वह शाहज़ादा सुख-ऐश्वर्य का लुभानेवाला प्याला पिये विना नहीं रह सका। वह ऐशो-आराम में निमग्न होगया। फ़िरोज़ अभी तक जीवित था, फिर भी शाहज़ादे के विरुद्ध विद्रोह उठा, गृहयुद्ध आरम्भ होगया। अपने पक्ष को शक्तिशाली बनाने के लिए अमीरों ने फ़िरोज़ को युद्धक्षेत्र पर आने के लिए बाध्य किया, मुहम्मद भाग गया। फ़िरोज़ ने पुनः राज्यकार्य का भार उठाने का प्रयत्न किया, परन्तु अब बहुत वृद्ध हो गया था, अतः वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकता था। अन्त में मुहम्मद ने अपने पौत्र तुग़लक़ शाह-बिन फ़तेहख़ाँ को अपना उत्तराधिकारी बनाया और सन् १३८८ ई० में मर गया।

फ़िरोज़ का अन्त।

फ़िरोज़ के अन्तिम दिनों में साम्राज्य के भङ्ग होने के लक्षण स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। दक्षिण देशों से प्राप्त तथा संचित धन से ऐश्वर्य-विलास का वह मधुर विष-पान करके कहाँ तक जीवित रहने की आशा की

जा सकती थी। मुहम्मद ने अपना सारा जीवन अपनी प्रजा के कार्य में ही बिताया। उसने कभी भी सुखपूर्वक बैठकर ऐश्वर्य विलास-पूर्ण जीवन बिताने की नहीं सोची। इसी कारण उसका शासन-काल भारत के प्रथम मुस्लिम साम्राज्य का मध्याह्न था। मुहम्मद के समय में देहली का ख़ज़ाना धन से परिपूर्ण था, किन्तु अब वह समय आगया था, जहाँ से दूसरी ओर उतार था। शिखर पर पहुँच कर अब शासकों का जीवन विलास के सागर की ओर लुढ़कने लगा। फ़िरोज़ ने अपना समस्त जीवन विलास की ओर झुकाया उसके साथ ही भारतीय मुसलमान भी विलास के गर्त में लुढ़क पड़े। अपने कई सुधारों से फ़िरोज़ ने मुसलमानों को विलासिता का स्वाद चखा दिया। ऐश्वर्य की मनोमोहक सुगन्धि से मस्त होकर, वे विलास की अतृप्य पिपासा को बुझाने के लिए सुखसागर की ओर दौड़ पड़े और निरन्तर पतित होते गये। फ़िरोज़ के अन्तिम दिनों में ही इस मादकता का प्रभाव दिखाई पड़ने लगा था। भारतीय मुसलमानों ने विलासिता में निमग्न होकर आत्मघात किया। वे मृतप्राय होगये। उनका वह तेज जिसे अपनी प्राचीन सभ्यता से सुशोभित बाँके वीर राजपूत भी नहीं सह सके थे, अब नष्ट होगया था। उनका वह कठोर जीवन जो प्रत्येक जाति को जीवित रखता है, जो प्रत्येक जाति को उत्थान की ओर बढ़ने को प्रोत्साहित करता है, अब नहीं रहा। भारत के सुरम्य, धनधान्यपूर्ण मैदानों के वे शासक बने बैठे थे, उन्हें सूझी कि इनका पूर्ण उपभोग करें। उन्होंने उपभोग किया, अपनी सुखलिप्सा को पूर्णरूप से तृप्त करने का

प्रयत्न किया। उन्हें प्रतीत हुआ कि वे बहुत कुछ सुख प्राप्त कर चुके थे। परन्तु आह! अपनी सुखलिप्सा को शान्त करने में उन्हें अपना मनुष्यत्व, अपना जीवनसार, देना पड़ा। कितना महँगा सौदा था। फ़िरोज़ के शासनकाल के अन्त होने के साथ ही सहसा मुसलमानों की शक्ति कपूर की नाईं न जाने क्योंकर अदृष्ट रीति से नष्ट हो गई। वे ही मुसलमान, जिन्होंने सुदूर दक्षिण तक देहली के साम्राज्य की पताका को फहराया था, अब देहली के आसपास के प्रान्तीय विद्रोहों तक को दबाने में असमर्थ होगये। तैमूर-लंग भारत पर चढ़ आया, उसकी सेना के सम्मुख भारतीय मुस्लिम साम्राज्य नत-मस्तक होगया। तैमूर की सेना का सामना करने के लिए देहली की सेना गई, किन्तु भेड़-बकरी के झुण्ड की तरह उसका संहार हुआ। मुस्लिम साम्राज्य की लज्जा रखने को, यह बताने के लिए कि ये भारतीय मुस्लिम उन्हीं महान् वीरों के सच्चे वंशज हैं, कोई भी न मिला। अपनी रुधिर-पिपासा शान्त करने के लिए मङ्गोलों को देहली में अच्छा अवसर मिला। दिल्ली की निस्सहाय प्रजा को बचाने के लिए कोई भी खड़ा न हुआ। कितना भीषण पतन था, कितना घृणापूर्ण दृश्य था। सारे भारत पर राज्य करनेवाले, अपनी वीरता की धाक बैठानेवाले, सारे मुस्लिम संसार से अपनी विद्वत्ता का लोहा क़बूल करवानेवाले वीर विद्वान् सम्राटों के वंशजों की यह दशा! इस दशा को देखकर किस मानव-हृदय में उथल-पुथल न मचेगी? कौन ऐसा पुरुष होगा जो इन कायर निकम्मे वंशजों पर न थूकेगा?

परन्तु इस पतन का कारण क्या था? वह कौन सा कारण था जिसके फलस्वरूप एकाएक ऐसा भीषण पतन हुआ? क्योंकर एक पुरुष के मरते ही जीवित साम्राज्य मृत होगया? इतिहासकार इस भीषण पतन के कई एक कारण बताते हैं, परन्तु हमें इसका एक ही महान् कारण दीख पड़ता है; वह है—विलासपूर्ण जीवन! फ़िरोज़ ने अपने शासन-काल में मुसलमानों को ऐश्वर्य का प्याला पिलाकर उनसे आत्मघात करवाया। मुसलमानों ने आत्मघात किया और इसी कारण साम्राज्य का पतन हुआ। जिस कारण से संसार के प्राय: सब साम्राज्य नष्ट हुए, जिस एक कारण से संसार के इस रंगमंच पर से कई एक जातियों का अस्तित्व तक सर्वदा के लिए मिट गया, जिस मार्ग की ओर अग्रसर होकर कई एक राष्ट्रों का पतन हुआ, उसी कारण से भारत का प्रथम मुस्लिम साम्राज्य भी भंग हुआ। वह कारण था—मुसलमानों का ऐश्वर्य-विलास में निमग्न रहना। और इस पतन के लिए कौन उत्तरदायी है? इस पतन के लिए हम किसे दोषी बता सकते हैं? केवल एक पुरुष ही इस पाप का भागी था—फ़िरोज़ तुग़लक़। उसके शासनकाल का बीजमन्त्र था—अकर्मण्यता। इस अकर्मण्यता ने भारतीय मुसलमानों को निस्तेज कर दिया। फ़िरोज़ के साथ ही साथ वे धर्माधिकारी भी साम्राज्य के पतन के पाप के भागी हैं, जिन्होंने मुहम्मद की उद्योग-पूर्ण नीति को नष्ट किया। यह है भारत के प्रथम मुस्लिम साम्राज्य के धीरे धीरे नष्ट होने का विवरण। आत्मघात करके मुसलमानों ने साम्राज्य को भी नष्ट किया। साम्राज्य का पूर्ण पतन हुआ। पुनः साम्राज्य को स्थापित

करने के लिए प्रयत्न किये गये; किन्तु एक मृतप्राय जाति से ऐसा महान् कार्य होना एक असम्भव बात थी; उनके उद्योग विफल हुए। और जब तक जीवित जातियों में पुन: नव-जीवन का संचार नहीं हुआ, उन जीवित जातियों में जब तक पुन: स्फूर्ति प्राप्त नहीं हुई वहाँ तक द्वितीय मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना करना असम्भव हो गया। सन १५२६ ई० में जब मुग़लों का आक्रमण हुआ, और मध्यएशिया के उन उद्योग-पूर्ण देशों से वे नवजीवन का अंकुर लाये, तभी भारत के मुस्लिम साम्राज्य में नवजीवन आया।

९.

लोदी सुलतान ।

९.

लोदी सुलतान—मृतप्राय जाति के निष्फल प्रयत्न—पूर्व मध्य-कालीन मुस्लिम बादशाहत की अन्तिम ज्योति और उसका अन्त।

फ़िरोज़ तुग़लक़ की मृत्यु के अनन्तर जड़-कटे हुए वृक्ष के समान साम्राज्य गिर पड़ा। अन्तिम बन्धन जो साम्राज्य को बाँधे हुए थे वे कट गये और अब साम्राज्य का कोई अवलम्ब न रहा। उसका भविष्य निश्चित था। फ़िरोज़ की नीति ने साम्राज्य की जड़ें ढीली कर दी थीं, अतएव साम्राज्य तैमूर के आक्रमणरूपी झोंके को नहीं सह सका। साम्राज्य के टुकड़े टुकड़े होगये; सारा देश भिन्न भिन्न स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया।

देहली-साम्राज्य की अवस्था १३८८-१४१४

फ़िरोज़ की मृत्यु के साथ ही तुग़लक़-वंश का अन्त नहीं हुआ; उसी घराने के कुछ और पुरुष भी सम्राट् के पद पर आरूढ़ हुए, परन्तु वे नाम-मात्र के सम्राट् थे। यद्यपि ये महान् मुहम्मद के उत्तराधिकारी बनकर उसी सिंहासन पर बैठते थे, किन्तु उस महान् सम्राट् के पांडित्य, उसकी राजनीतिज्ञता, उसका चातुर्य, युद्ध-दक्षता, आदि बातों का एक दशांश भी उनमें नहीं पाया जाता। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद

लिखते हैं कि—"यह एक विचित्र बात है कि फ़िरोज़ तुग़लक़ की मृत्यु के अनन्तर कोई अच्छा योग्य सम्राट् देहली के सिंहासन पर आरूढ़ न हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि अज्ञातरूपेण क्षीण होते होते अब राजघराने में बुद्धि, सच्चरित्रता आदि गुण पूर्णतया नष्ट होगये थे।"[१] तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति भी बहुत विकट हो गई थी। एक पतनोन्मुख साम्राज्य को पतन के भीषण गह्वर से बचाना एक साधारण व्यक्ति के लिए असम्भव बात थी। दिल्ली के सिंहासन पर अपने अपने दल के सम्राट् को आरूढ़ करने के लिए भिन्न भिन्न दल या भिन्न भिन्न प्रान्तों के सूबेदार परस्पर युद्ध करने लगे। एक बार तो यहाँ तक हालत बिगड़ी कि एक ही देहली में, कुछ ही दूरी पर, दो भिन्न भिन्न स्थानों में दो भिन्न भिन्न सम्राट् शासन कर रहे थे। स्वार्थ-सिद्धि करना ही प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य था। पारस्परिक युद्ध का दावानल जल उठा। साम्राज्य का अन्त होगया। और विशेषतया तैमूर के लौट जाने पर सब जगह ऐसी अशान्ति तथा गड़बड़ी मची कि "देहली तथा आस-पास के प्रान्तों में इसी कारण सारी शासन-पद्धति जड़वत हो गई"।[२] सारा सामाजिक जीवन भग्न होगया। इस अशान्ति को मिटाना, सामाजिक जीवन की भग्न इमारत को पुन: निर्माण करना, पुन: देहली के आधिपत्य को सर्वत्र स्थापित करके शासन को सुसंगठित करना और स्वार्थ-सिद्धि पर तुले हुए अमीरों

---

१. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४१२।

२. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३००।

को दबाना, उन अशक्त, अयोग्य सम्राटों के लिए कठिन ही नहीं असम्भव था।

जब सय्यदों ने देहली का सिंहासन छीन लिया और तैमूर के नाम से शासन करने लगे, तब उनके सम्मुख ऐसे कठिन प्रश्न समुपस्थित हुए और उस समय देहली की राजनैतिक अवस्था ऐसी बिगड़ी हुई थी कि शायद ही भारत के किसी दूसरे सम्राट् या शासक को ऐसी परिस्थिति तथा ऐसी विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा हो। कार्य बहुत ही कठिन था, प्रश्न असाध्य के समान थे और उन्हें सुलझाने में बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना था। फ़िरोज़ तुग़लक़-द्वारा प्रारम्भ की गई कई एक हानिकारक संस्थाओं की जड़ ऐसी गहरी जमी थी कि उनको उखाड़ना कठिन था। अतः सय्यद शासकों के लिए, सारे भारत पर शासन करना तो दूर रहा, देहली तथा आस-पास के प्रदेश की छोटी सी सल्तनत का भी शासन करना एक कठिन समस्या होगई। भिन्न भिन्न सूबेदार, हिन्दू राजा, तुर्क-बच्चा मेवाती आदि के विद्रोहों का एक ऐसा ताँता बँधा कि ज्यों ही सल्तनत के एक भाग में शान्ति स्थापित होती त्यों ही दूसरी ओर विद्रोह उठ खड़ा होता। ३६ वर्ष तक इस घराने ने शासन किया, किन्तु इस काल में ये विद्रोहों को ही दबाते रहे। उन्हें कभी भी इस बात के लिए समय न मिला कि इन विद्रोहों को पूर्णतया दबा कर, सल्तनत में पूर्ण शान्ति स्थापित करके, शासन को सुदृढ़ और सुसंगठित करें। इसी कारण यह पढ़ कर कि बहलोल लोदी के आमन्त्रण भेजने

सय्यद-सुलतान। १४१४-१४५०

पर भी अन्तिम सय्यद सुलतान ने राज्यभार अंगीकार नहीं किया, हमें कुछ भी आश्चर्य नहीं होता है।

बहलोल लोदी ने अलाउद्दीन सय्यद को गद्दी से उतार दिया, वह स्वयं सम्राट् बन बैठा। उस समय उसे इस बात का विचार नहीं आया कि राज्यभार को अंगीकार करके वह अपने वंश के अन्त का भी आह्वान कर रहा है। सय्यदों के प्रयत्न विफल हुए थे, अतः भारत और देहली की सल्तनत की दशा अधिक ख़राब तथा राजनैतिक समस्याएँ अधिक कठिन होगईं। इन्हें सुलझाना असम्भव सा हो रहा था। अतः जब लोदियों ने देहली के सिंहासन को अपनाया, तो भारत एक निष्पक्ष दर्शक की तरह उनकी कार्यवाही को देखने लगा। यदि वे सफल हुए तो भारत उन्हें अपना उद्धारक समझ करके, उनका आदर करेगा। यदि कहीं वे असफल हुए तो उनके ही नहीं उस सल्तनत के भी भाग्य का अन्त होना सम्भव होगा। शासकों की नीति की सफलता या विफलता पर साम्राज्य का, तथा उस घराने का भाग्य निर्भर था।

लोदियों का आगमन।

अतः जब सन् १४५० ई० में बहलोल ने देहली की सल्तनत को ग्रहण किया तो उसने अपने वंश के भी जीवन-मरण का सौदा किया। बाज़ी बिछ चुकी थी, पासा फेंका जा चुका था, यह बाज़ी किधर जावेगी, यह ही देखना चाहिए। किन्तु जब यह खेल प्रारम्भ हुआ, उस समय यह सम्भव था कि यदि लोदी सुलतान ठीक तरह से, विचार-पूर्वक खेलेंगे तो वे जीत जावेंगे, किन्तु क्या वे विचारपूर्वक खेलेंगे?

सन् १४५० ई० में भारत की क्या दशा थी, इसे जाने बिना लोदियों के सम्मुख आये हुए प्रश्नों की महत्ता तथा उनके काठिन्य को समझना सरल नहीं है।

सन् १४५० ई० में भारत की दशा।

सारा भारत भिन्न भिन्न राज्यों में विभक्त था। उत्तर में काशमीर स्वतन्त्र था, पूर्व में जौनपुर और बंगाल, दक्षिण में बहमनी-साम्राज्य, गुजरात, मालवा और ख़ानदेश के स्वतन्त्र राज्य स्थित थे। इन दिनों विजयनगर का स्वतन्त्र राज्य भी पूर्णतया स्थापित हो चुका था। गोंड़वाने में कई स्वाधीन हिन्दू राजा राज्य करते थे, और राजस्थान के राजपूत नरेश अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे हुए थे। देहली सल्तनत भी भिन्न भिन्न जागीरों में विभक्त थी। पंजाब के सूबे, लाहौर आदि से लेकर पानीपत तक, बहलोल लोदी के अधिकार में थे। महरौली तथा देहली के आसपास का देश अहमदख़ाँ मेवाती के हाथ में था। दोआब में भी भिन्न भिन्न सूबे थे जो पूर्णतया स्वाधीन थे। कुतुबख़ाँ के अधिकार में रेवाड़ी, चन्दवार, इटावा और ईस्वीख़ाँ तुर्क के पास कोलि, जलाली, और जलेसर थे। बयाना दाउदख़ाँ तथा एक हिन्दू-राजा के बीच में बँटा हुआ था। राजा प्रतापसिंह पटौली और कम्पिला पर अधिकार जमाये बैठा था।[1] अगर सच पूछा जाय तो सन् १३८८ ई० में और विशेषतया सन् १३९८ ई० में साम्राज्य नाम-मात्र को रह गया था। बंगाल आदि राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र हो गये थे, वे न तो देहली की अधीनता स्वीकार करते थे, और न

---

१. ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४२६.।

देहली के मामलों में ही हस्तक्षेप करते थे। दूसरे स्वतन्त्र सूबों और स्वतन्त्र राज्यों में भिन्नता केवल यही थी कि ये सूबे नाम-मात्र को ही देहली सल्तनत के अन्तर्गत थे, और वहाँ के सूबेदार जब समय पाते तो देहली की राजनैतिक बातों में हस्तक्षेप भी करते थे। "सय्यदों ने साम्राज्य की सत्ता को पुनः स्थापित करने के लिए जो प्रयत्न किये वे उनको शक्ति से बाहर थे। सारे देश की आर्थिक अवस्था बिगड़ रही थी। तैमूर के आक्रमण से समस्त भारत के और विशेषतया उत्तरी भारत के आर्थिक जीवन को बड़ा धक्का लगा। अशान्ति तथा अराजकता के कारण देश की समृद्धि का अन्त हो गया।" व्यापार और कृषि का भी कुछ काल के लिए अन्त हो गया। मुस्लिम साम्राज्य की निर्बलता से हिन्दुओं ने लाभ उठाया। चौदहवीं शताब्दी में कुछ काल के लिए भक्ति-मार्गगामियों ने हिन्दूधर्म में नवजीवन का संचार किया। राजपूत नरेश भी अवसर देख कर अपनी शक्ति बढ़ाने लगे।

लोदियों के सम्मुख पाँच राजनैतिक प्रश्न।

अतः बहलोल ने जब सिंहासन ग्रहण किया उस समय उसके सम्मुख पाँच प्रश्न उपस्थित हुए। उसके उत्तराधिकारियों को भी इन्हीं पाँच प्रश्नों का सामना करना पड़ा।

पहला प्रश्न साम्राज्य के शासन का था। तैमूर के समय से ही शासनपद्धति पूर्णतया भंग होगई थी। शासन केवल नाम-मात्र को चल रहा था। अतः आवश्यकता इस बात की थी कि शासन को पुनः स्थापित करके उसे सुदृढ़ तथा सुसंगठित

बनाया जावे। केन्द्रीय शासन का दबदबा सर्वत्र प्रतीत हो। सारे देश में एक ही शासक की आज्ञा सर्वोपरि हो। सल्तनत के भिन्न भिन्न सूबों को देहली-सम्राट् के शासन के अन्तर्गत लाया जावे। सूबेदार भी देहली के सम्राट् के प्रतिनिधि-मात्र हों, और देहली की दी गई आज्ञाओं का अक्षरशः पालन किया जावे।

दूसरा प्रश्न देश में शान्ति स्थापित करने का था। देहली के छोटे से साम्राज्य में भी अराजकता छाई हुई थी। "गुलाबी युद्ध" के पहले जिस प्रकार इँगलेंड के अमीर आपस में लड़ा करते थे, उसी प्रकार यहाँ भी भिन्न भिन्न अमीरों में परस्पर युद्ध चला करता था। उनके लिए यह युद्ध खेल-मात्र था। इँगलेंड के अमीरों के समान ही इस समय भारत में भी अमीर ही शान्ति के विघातक थे। यदि शासक अमीरों को दबाने का प्रयत्न करते तो देश सम्राटों की सहायता अवश्य करता, क्योंकि उन्हें दबाये बिना चिरवांछित शान्ति तथा सुशासन ठीक तरह से स्थापित नहीं किये जा सकते थे। किन्तु अमीरों को दबाने का प्रयत्न करना सोते हुए शेर को छेड़ने के समान था।

तीसरे, साम्राज्य के लिए उन प्रदेशों को जीतना था, जो अराजकता के काल में स्वतन्त्र होगये थे। जौनपुर के समान समीप के राज्यों को जीत कर साम्राज्य में मिलाना कठिन नहीं था। इस प्रकार साम्राज्य को पुनः जीवित करने का प्रयत्न किया जा सकता था।

चौथा प्रश्न भारत की नैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं को हल करने का था। तैमूर के आक्रमण तथा

अराजकता के फलस्वरूप प्राचीन पद्धति नष्ट हो गई थी, और ये समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। इन समस्याओं को हल करना अत्यावश्यक था।

पांचवाँ और अन्तिम किन्तु सबसे महत्त्व का प्रश्न साम्राज्य की नीति को निर्धारित करना था। साम्राज्य को नष्ट हुए अर्धशताब्दी से अधिक समय बीत चुका था। राजनैतिक अवस्था में बहुत कुछ परिवर्तन होगया था। हिन्दुओं की राजनैतिक अवस्था अधिक सुदृढ़ तथा शक्तिशाली होगई थी। पुनः फ़िरोज़ की धर्मप्रधान नीति के भीषण परिणाम भी आँखें खोलकर देखनेवालों को स्पष्टतया दिखाई दे रहे थे। राजनैतिक नीति से भी साम्राज्य की धार्मिक नीति पर साम्राज्य का भविष्य अधिक निर्भर था। नीति को निर्धारित करने में शासकों को अतीव चातुर्य्य, कौशल तथा राजनीतिज्ञता का परिचय देना था।

उस अराजकतापूर्ण काल में लोदियों को ये कठिन प्रश्न हल करने थे। इस बीहड़ वन में से उन्हें अपनी राह ढूँढ़ निकालनी थी। यदि लोदी सम्राट् ठीक राह को लग जाते तो वे सरलतापूर्वक सीधे पार हो जाते। किन्तु उस वन में कई कठिनाइयाँ थीं, कई ऐसे गड्ढे थे कि जिनमें गिर पड़ने से लोदी-वंश का ही नहीं साम्राज्य का भी अन्त होना अवश्यम्भावी था।

लोदी सम्राट् कौन कौन सी ग़लतियाँ कर सकते थे?

प्रथम तो यह सम्भव था कि कहीं ये शासक असहिष्णुता-पूर्ण नीति अंगीकार न कर लें। फ़िरोज़ की धार्मिक कट्टरता-पूर्ण नीति के फलस्वरूप हिन्दुओं के हृदयों में मुसलमानों के

प्रति द्वेष तथा रोष उत्पन्न होगया था। वे मुसलमानों की अधीनता का विरोध करने को तैयार थे। विशेषतया अराजकता के काल में उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई थी। अतः यदि लोदियों ने धार्मिक असहिष्णुता की नीति अंगीकार कर ली तो हिन्दुओं का विरोध होना अवश्यम्भावी है। हिन्दू असन्तुष्ट ही नहीं होंगे किन्तु साम्राज्य को मिटाने के लिए उतारू हो जावेंगे। यह एक ही त्रुटि साम्राज्य को तथा लोदी-वंश को नाश करने के लिए पर्याप्त थी।

दूसरी ग़लती जो लोदी सम्राट् कर सकते थे वह यह थी कि वे साम्राज्य-शासन को सुदृढ़ करने की ओर विशेष ध्यान न देते। जिससे वे प्रजा के हृदय में श्रद्धा का भाव पैदा नहीं कर सकते और उनकी सत्ता की नींव जमना कठिन हो जाती। सुदृढ़ शासन की स्थापना करना अत्यावश्यक था। शासन को सुसंगठित करने पर ही यह सम्भव था कि ये शासक बाह्य आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना कर सकेंगे। यदि शासन की सत्ता भिन्न भिन्न सूबेदारों के हाथ में बँटी रही तो ज्यों ही एकाध झोंका आवेगा, साम्राज्य के भङ्ग होने में तथा इस प्रकार एकबारगी सारे साम्राज्य का बाह्य आक्रमण-कारियों के हाथ में चले जाने में अधिक कठिनाई नहीं होगी।

तीसरी ग़लती जो लोदी सुलतान कर सकते थे वह अपने अमीरों को न दबाने की। अराजकता के काल में सम्राट् के प्रति आदर घट गया था, अब सम्राट् केवल शक्तिशाली सूबे-दार या शक्तिशाली सेनापति के हाथ की कठपुतली-मात्र रह

गया था। अत: यदि सम्राटों ने अमीरों को दबाने का प्रयत्न न किया या वे यदि अपने इस प्रयत्न में विफल हुए तो यह अवश्यम्भावी था कि साम्राज्य का शासन जागीरप्रधान हो जावेगा, और फिर साम्राज्य का भविष्य सम्राट् के हाथ में न रहकर अमीरों के हाथ में चला जावेगा। तब अमीर ही साम्राज्य के भाग्य के विधाता हो जावेंगे। बन्धनरहित होने की अमीरों की प्रवृत्ति यदि दबाई न गई तो, या तो उनकी शक्ति के सम्मुख सम्राट् को अपना सिर झुकाना पड़ेगा, और साम्राज्य भिन्न भिन्न जागीरों में विभक्त हो जावेगा, या वे उद्दाम अमीर साम्राज्य को ही नष्ट कर देंगे। स्वार्थसिद्धि करने के समय प्राय: मनुष्य इस बात को भूल जाते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए साम्राज्य की बलि दे देना बहुत नीच कार्य है, किन्तु स्वार्थ से अन्धा पुरुष ऐसा नीच कार्य करने से भी नहीं हिचकेगा।

लोदियों की अदूरदर्शिता।

लोदियों के सम्मुख जो प्रश्न उपस्थित हुए उसी प्रकार के प्रश्नों का इँगलैण्ड में ट्यूडरों को भी सामना करना पड़ा था। किन्तु जहाँ ट्यूडर सफल हुए, वहीं लोदी विफल हुए। परिणाम की इस भिन्नता का कारण एक ही था। जहाँ ट्यूडरों ने, इँगलैण्ड की दशा पर पूर्णरूप से विचार करके, तत्कालीन परिस्थिति का पूर्ण अध्ययन करने के अनन्तर ही, अपना कार्यक्रम निश्चित किया, वहीं उसके विपरीत लोदियों ने भारत की तत्कालीन दशा पर कुछ भी विचार न किया। उन्होंने इस बात की ओर कुछ भी ध्यान न दिया कि तत्कालीन परिस्थिति को सुधारने के लिए उन्हें

कौन सी नीति अङ्गीकार करनी चाहिए थी। उनका कार्यक्रम किस प्रकार का होना चाहिए, इस प्रश्न की ओर लोदियों ने दृष्टि भी न डाली। अपनी प्रारम्भिक विजयों से उन्मत्त होकर लोदी इस बात को नहीं जान सके कि उनकी सत्ता कितनी खोखली थी। उन्हें ठीक राह न सूझी, अतः वे गहरे गड्ढों में गिर पड़े और विकराल काल उन्हें निगल गया। जिस स्थान को लोदी रिक्त करनेवाले थे, उसे पूर्ण करने के लिए दूर देशों से मुग़ल अनजाने खिँचे चले आये।

अब हम प्रत्येक शासक की नीति, उसके कार्य तथा शासन के परिणामों पर विचार करेंगे।

बहलोल लोदी
१४५०-१४८८

बहलोल लोदी ने इस वंश की स्थापना की। वह एक सिपाही था, अपने जीवन में वह सेना का सेनापति-मात्र रहा था। यद्यपि वह धार्मिक, न्यायप्रिय तथा दानी था, किन्तु स्वार्थ के लिए नीच से नीच कार्य करने से भी नहीं हिचकता था। जिस हामिदख़ाँ वज़ीर ने उसे देहली के सिंहासन पर बिठाया, उसे ही बहलोल ने अपने शासनकाल के प्रारम्भ में ही दग़ा देकर मार डाला।

बहलोल के शासन की सब घटनाओं पर निष्पक्ष-रूपेण विचार करने पर भी हम डाक्टर ईश्वरीप्रसाद के निम्नलिखित कथन से बिलकुल ही सहमत नहीं होते हैं। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद का मत है कि—"बहलोल ने......देहली की बादशाहत के घटते हुए प्रभाव को पुनः बढ़ाया था, अतः बहलोल को इतिहास में उच्च स्थान दिया जाना चाहिए"[1]।

1. ईश्वरीप्रसाद—मेड़ीवल़ इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४३४।

बहलोल ने अपने सारे शासनकाल में केवल दो ही कार्य करने का प्रयत्न किया। प्रथम तो निरन्तर युद्ध करके और कई बार बेइमानी भी करके अन्त में जौनपुर के राज्य को जीत लिया। दूसरे उसने साम्राज्य में अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

यदि पहिले कार्य पर विचार किया जावे, तो यह स्पष्ट है कि बहलोल ने जौनपुर जीत कर भी उसे नहीं जीता। उसने जौनपुर को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया, वहाँ के शासक हुसैनशाह को निकाल बाहर किया, किन्तु उसने जौनपुर-प्रान्त का ठीक ठीक प्रबन्ध न किया। फ़िरोज़ द्वारा प्रचलित जागीर-प्रथा ने भारतीय शासन-पद्धति में ऐसी गहरी नींव जमा ली थी कि सल्तनत के सद्य: जीते हुए प्रान्तों के शासन की इसके अतिरिक्त कोई दूसरी पद्धति नहीं दिखाई दी। बहलोल ने हुसैनशाह को निकाल बाहर किया, किन्तु उसके स्थान पर उसने एक दूसरे शासक को, जो नाम-मात्र को देहली-सम्राट् के अधीन था, नियत किया। बहलोल को मालूम था कि अफ़ग़ान अमीरों के हृदय में उसके प्रति विरोध का भाव भरा हुआ है, किन्तु जौनपुर को किसी के भी अधीन किये बिना शासन-प्रबन्ध होना कठिन था। इसी कारण उसने जौनपुर को अपने बड़े लड़के बरबकशाह के अधिकार में दे दिया।

जौनपुर-विजय।

जौनपुर के शासन की यह व्यवस्था करना, बहलोल की प्रथम महान् ग़लती थी। राजनैतिक दृष्टि से यदि देखा जावे तो यह स्पष्ट है कि सन् १५२६ ई० में साम्राज्य के पतन

का एक परोक्ष कारण जौनपुर की यह शासन-व्यवस्था भी थी। इस प्रबन्ध के कारण ही सिकन्दर के शासनकाल का बहुत कुछ समय जौनपुर के साथ युद्ध करने में बीता। पुनः जब जौनपुर, साम्राज्य का एक अविकल भाग नहीं बन सका, और केवल एक भिन्न भाग ही रहा, तब वहाँ के शासकों को या तो स्वतन्त्र बनने की सूझी या उन्हें स्वतन्त्र होने के लिए उकसाया गया। जौनपुर के इन अर्धस्वतन्त्र शासकों के साथ लड़ने में ही लोदी-वंश के आगामी सम्राटों की बहुत कुछ शक्ति तथा समय व्यर्थ नष्ट हुए। उनके शासन-काल का बहुत कुछ समय इस झगड़े में ही बीतता था, जिससे वे शासन की अन्य अधिक महत्त्व की बातों की ओर ध्यान नहीं दे सके।

शान्ति-स्थापना के तथा साम्राज्य-शासन के प्रयत्न।

बहलोल ने साम्राज्य में शान्ति स्थापित करने तथा शासन के लिए जो प्रयत्न किये उन पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि उसने समय पर काम चलाने के लिए कुछ व्यवस्था-मात्र कर दी। साम्राज्य की चिरशान्ति बनी रहे और शासक की सत्ता की अवहेलना न की जावे, इसके लिए उसने कोई स्थायी प्रबन्ध नहीं किया। शासन को सुदृढ़ बनाने के प्रश्न की ओर तो बहलोल ने ध्यान भी न दिया।

अमीरों के प्रति उसका बर्ताव।

बहलोल की अन्तिम ग़लती यह हुई कि सिंहासनारूढ़ होने पर उसने अपना मान बढ़ाने तथा अपने उच्च पद का प्रभाव दिखाने के लिए कोई भी प्रयत्न न किया। सम्राट् के पद पर आरूढ़ होकर भी वह अपने पुराने साथियों

और सेनापतियों आदि पर शासन न कर सका। अन्य अमीरों और सैनिकों के साथ वह भाइयों का सा बर्त्ताव करता था। राजसभा में भी वह कभी भी तख़्त पर नहीं बैठता था, और न अमीरों को खड़ा रहना पड़ता था। सम्राटों के प्रति पहले ही आदर घट गया था, अब उनकी कोई भी परवाह नहीं करता था। बहलोल जब कभी अपने सरदारों के पास फ़रमान भेजता था तो "मसनद अली" करके उनका सम्बोधन करता था, और जब कभी वे बहलोल से रुष्ट हो जाते, तो बहलोल उन्हें प्रसन्न करने के लिए भरसक प्रयत्न करता था। कई बार वह उनके घर पर जाता और रुष्ट अमीर के सम्मुख अपनी तलवार निकालकर रख देता और कहता—"यदि तुम्हारे विचारानुसार मैं अपने वर्तमान पद के लिए अयोग्य हूँ तो किसी दूसरे योग्य व्यक्ति को मेरे पद पर नियुक्त कर दो, और मुझे मेरे ही योग्य कोई दूसरा स्थान प्रदान कर दो।"[१] इस प्रकार बहलोल ने अमीरों के बढ़ते हुए उद्धतपन को बढ़ाया। उसने इस बात का कोई भी प्रयत्न नहीं किया कि किसी प्रकार इस उद्धतपन को रोका जावे।

बहलोल—"एक विफल सम्राट्"

साम्राज्य के हित की दृष्टि से तो बहलोल की नीति विफल ही नहीं हुई, किन्तु पूर्णरूप से घातक हुई। उसने अपने घराने की स्थापना को किन्तु उसके साथ ही साथ उसके नष्ट होने की भी आयोजना कर दी। शासक की हैसियत से तो बहलोल "एक विफल सम्राट्" था, और इसी

१. ईलियट और डासनः—हिस्ट्री आफ इण्डिया, खण्ड ४, पृष्ठ ४३६-७

कारण हमारे विचारानुसार उसे इतिहास में उच्च स्थान नहीं दिया जा सकता है।

अगर हम एक मनुष्य की हैसियत से बहलोल के जीवन पर दृष्टि डालें तो हमें उसमें कई गुण दिखाई पड़ेंगे। वह

उसका व्यक्तिगत चरित्र

नम्र था, दानी था, न्यायप्रिय था, और गर्व तो नाम-मात्र को भी उसमें नहीं पाया जाता था। वह वीर योद्धा था, और निर्भयता-पूर्वक युद्ध करता था। यदि सम्राट् न होकर वह किसी सम्राट् का सेनापति होता तो वह अधिक सफल होता, और इतिहास में उसे अधिक उच्च स्थान दिया जाता।

बहलोल की शासन-नीति का क्या परिणाम हुआ? जिस समय बहलोल ने सन् १४८८ ई० में इहलोक को त्याग करके

बहलोल की शासन-नीति का परिणाम।

परलोक की यात्रा की, उस समय साम्राज्य की क्या दशा थी? प्रथम तो जौनपुर जीत लिया गया था, किन्तु वह अब भी देहली का एक अर्धस्वतन्त्र सूबा-मात्र था। जौनपुर का पुराना सुलतान हुसैनशाह अभी तक बंगाल में पुनः राज्य-प्राप्ति के सुअवसर की ताक में बैठा था। दूसरे, सल्तनत की दशा वही थी जो सन् १४५० ई० में थी। सारा देश अब भी भिन्न भिन्न जागीरों में विभक्त था। भिन्न भिन्न प्रान्तों के सूबेदार नाम-मात्र को देहली के सम्राट् के अधीन थे। तीसरे, अमीर अधिक विद्रोही तथा उन्मत्त होगये थे। बहलोल ने अपने बर्ताव से उन्हें अधिक ढीठ बना दिया था। वे सम्राट्-रूपी बन्धन को तोड़ डालने को उत्सुक हो रहे थे। भविष्य में उनको दबाना अधिक कठिन हो गया था।

वहलोल ने इन कठिन प्रश्नों को सुलझाने में राजनीतिज्ञता का पूर्ण अभाव प्रदर्शित किया, और उन प्रश्नों को अधिक उलझा दिया।

सन् १४८८ ई० में वहलोल के मरने पर उसका दूसरा पुत्र सिकन्दर सिंहासनारूढ़ हुआ। जौनपुर का प्रश्न ही पहले पहल उठा, और उसी को सुलझाने में सिकन्दर के शासन-काल के प्रारम्भिक सात वर्ष वीते। बरबकशाह ने अपने को जौनपुर का स्वतन्त्र बादशाह घोषित किया। सिकन्दर ने बरबक के मन्त्री कालापहाड़ को अपनी ओर मिला लिया और बरबक को हराया। तब तो बरबक ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। और सिकन्दर ने बरबक ही को जौनपुर का सूबेदार नियत किया। किन्तु जौनपुर साम्राज्य के विद्रोहियों का अड्डा बन गया था। जौनपुर के ज़मींदारों ने विद्रोह किया और बरबक भाग खड़ा हुआ। सिकन्दर बरबक की अयोग्यता पर चिढ़ गया, और उसे क़ैद कर लिया। सिकन्दर ने ज़मींदारों के विद्रोह को दबा दिया, किन्तु अपने अनुकूल अवसर पाकर, विद्रोही ज़मींदारों के आमन्त्रण पर, हुसैनशाह बंगाल से लौट आया और उसने एक बड़ी सेना इकट्ठी की। शाही सेना के साथ युद्ध हुआ, परन्तु हुसैनशाह हारा और लखनौती की ओर भागा, जहाँ उसने अपने अन्तिम दिवस विताये। सिकन्दर ने ख़ाँ-इ-जहाँ के अधिकार में सारा प्रान्त दे दिया, और उसके मरने पर अपने बड़े लड़के अहमदख़ाँ को आज़म हुमायूँ का नाम प्रदान करके जौनपुर का सूबेदार नियत किया।

सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१८) जौनपुर का प्रश्न।

जिस प्रकार बरबक को नियुक्त करके बहलोल ने सिकन्दर के काल में अशान्ति तथा विद्रोह का बीज बोया, उसी तरह सिकन्दर ने जौनपुर का प्रान्त आजम हुमायूँ को देकर साम्राज्य के पतन की तैयारी कर दी। पुत्र ने पिता की ग़लती के कटु परिणाम का अनुभव करके भी लाभ नहीं उठाया। जो ग़लती पिता ने की, उसी को पुत्र ने दोहराया और दोनों की ग़लती का फल यह हुआ कि सिकन्दर के उत्तराधिकारी इब्राहीम की जान गई और साम्राज्य भी भङ्ग हो गया।

जौनपुर को जीतने के बाद सिकन्दर ने बङ्गाल पर चढ़ाई की, किन्तु युद्ध नहीं हुआ, वहाँ के सुलतान के साथ सन्धि होगई। सिकन्दर ने बहलोल द्वारा उलझाये गये प्रश्न को सुलझाने के प्रयत्न में एक और उलझन डाल दी, जिसको सुलझाना इब्राहीम के लिए अतीव कठिन हो गया।

अमीरों के प्रति बर्ताव।

बहलोल के बर्ताव से अमीर उद्दण्ड हो गये थे, और दिनोंदिन उनकी उद्दण्डता बढ़ती ही जाती थी। बहलोल ने एक ओर उन पर बन्धन डाले, और दूसरी ओर उन्हें उद्दण्ड बनाया, अतः वे अमीर उन बन्धनों को काटने के लिए प्रयत्न करने लगे। इसी कारण अपने शासन-काल में सिकन्दर उन्हें बड़ी ही कठिनाई के साथ कुछ नियन्त्रण में रख सका। बड़े बड़े अफ़ग़ान अमीरों के आय-व्यय की बहियों की जाँच की गई तो उनमें बहुत गड़बड़ी पाई गई। अफ़ग़ान अमीर सिकन्दर द्वारा की गई इस जाँच को अपने

अधिकारों पर कुठाराघात के समान समझते थे। अतः सिकन्दर के विरुद्ध षड्यन्त्र रचे जाने लगे। सिकन्दर के भाई फ़तेहख़ाँ को इस षड्यन्त्र में भाग लेने के लिए कहा गया, किन्तु फ़तेहख़ाँ ने सारा भेद खोल दिया, सारे षड्यन्त्रकारी पकड़े गये और उन्हें कठोर दण्ड दिया गया।

सिकन्दर के विरुद्ध अब अमीरों ने स्थान स्थान पर विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। सिकन्दर के शासन-काल के अन्तिम दिवस अमीरों, सूबेदारों और हिन्दू राजाओं के विद्रोहों को ही दबाने में बीते। उसने इस बात का प्रयत्न किया कि किसी तरह इन विद्रोहों का अन्त कर दे। अमीरों के आय-व्यय के ब्योरे की जाँच की जाने लगी। उनके कर्मचारी तथा नौकरों को सम्राट् ही नियत करने लगे। इस प्रकार सिकन्दर ने बहुत प्रयत्न किया कि शासन को अपने हाथ में ले किन्तु सारी पद्धति जागीरदारप्रधान बन चुकी थी। अर्स्किन ने अपने निष्पक्ष इतिहास में लिखा है कि "यद्यपि इस समय सारा साम्राज्य एक ही सम्राट् के अधिकार में था, किन्तु उस साम्राज्य में अणुमात्र भी एकता न थी। साम्राज्य क्या था, स्वतन्त्र प्रान्तों, जागीरदारों तथा सूबों का एक समूह-मात्र था। प्रत्येक भाग का शासन या तो पुश्तैनी शासक या देहली के सम्राट् द्वारा नियुक्त जागीरदार या सूबेदार करते थे। प्रजा अपने सूबेदार का ही शासन मानती थी। सूबेदार ही प्रान्त पर एकछत्र राज्य करते थे, और प्रान्तों की प्रजा को दुखी, या सुखी बनाना उन्हीं के हाथ में था। अतः सारा

शासन व्यक्तिगत ही था, न्याय-विचार का पता भी नहीं था। अपनी शक्ति बढ़ाने ही को नहीं किन्तु आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए प्रान्तों का शासन करने को दिल्ली के केन्द्रीय शासन-विभाग के बड़े बड़े पदों पर अफ़ग़ान ही नियुक्त किये जाते थे। किन्तु अमीर यही सोचते थे कि उनको जागीर पर उन्हीं का पूर्ण अधिकार था, अपनी तलवार के बल पर ही उन्हें वह जागीर मिली थी। सम्राट् ने कृपाकर उन्हें जागीर प्रदान की और इस प्रकार उनके प्रति अपनी उदारता दिखाई, यह विचार उनके मस्तिष्क में उपजता था।"[1]

अन्य सुधार।

सिकन्दर ने कुछ दूसरे सुधार भी किये, किन्तु उनकी संख्या बहुत ही कम थी। व्यापार, कृषि आदि बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। दरिद्रियों को भोजन दिया जाता था। परन्तु साम्राज्य का अन्त निकट आ रहा था। सम्राट् ने पूर्ण अदूरदर्शिता का परिचय दिया।

सिकन्दर की नीति में किस बात का अभाव था।

सारी शक्ति अपने हाथ में लेकर उसने इस बात का प्रयत्न किया कि वह अमीरों की उद्दण्डता को दबावे, इस उद्दण्डता को समूल मिटाने का उसने प्रयत्न नहीं किया। यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती है कि यदि सिकन्दर इस ओर प्रयत्न करता तो कहाँ तक सफल होता। किन्तु यह स्पष्ट है कि यह उद्दण्डता बढ़ते बढ़ते इब्राहीम के काल में इतनी बढ़ गई कि उसे

१. विलियम अर्स्किन—हिस्ट्री आफ इण्डिया अण्डर बाबर एण्ड हुमायूँ, खण्ड २, पृष्ठ ४०६।

दबाना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव सा हो गया। अतः शासन में दृढ़ता नहीं आई। सेना की दशा ठीक न हुई।[1] ज्यों ज्यों अमीरों को दबाने का प्रयत्न किया जा रहा था, त्यों त्यों वे अधिकाधिक उद्दण्ड होते जाते थे।

सिकन्दर की धर्मप्रधान नीति।

विधि के विधान को कौन मेट सकता है। सिकन्दर ने एक ओर अमीरों को दबाने का प्रयत्न किया, दूसरी ओर उसने धीरे धीरे सारे शासन को फ़िरोज़ के समान ही धर्मप्रधान बना दिया। सिकन्दर की नीति असहिष्णुतापूर्ण थी। हेवेल लिखता है कि—"१५ वीं शताब्दी के भारतीय मुसलमानों की प्रवृत्ति यह थी कि वे अपने पड़ोसी हिन्दुओं से मेल-मिलाप उत्पन्न करें। इस प्रवृत्ति को एक ओर हुसैनशाह आदि सुलतानों ने और दूसरी ओर कबीर, चैतन्य, रामानन्द आदि हिन्दू साधुओं ने बहुत उत्तेजना दी। किन्तु सिकन्दर ने काफ़िरों से मेलमिलाप करने की नीति का पूर्ण विरोध किया।"[2] "शासन धर्मप्रधान हो गया, और पुनः इस्लाम-धर्म बलपूर्वक हिन्दुओं के गले मढ़ा जाने लगा।"[3] उसने एक ब्राह्मण को इसी अपराध पर क़त्ल करवा डाला कि उसने मुसलमानों के सम्मुख यह कहने का साहस किया था कि हिन्दूधर्म भी इस्लाम के समान एक महान् धर्म है।

---

१ ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४३८।

२ हेवेलः—हिस्ट्री आफ़ दी आर्यन रूल इन इण्डिया, पृष्ठ ३८०।

३ ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४४९

डाक्टर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि—"मध्यकाल में 'बोधन' के समान ही धर्म पर बलि हो जानेवाले, हँसते हँसते मृत्यु का आलिंगन करनेवाले वीरों का हिन्दू-धर्म बहुत ऋणी है।"[१] सिकन्दर ने मथुरा के कई मन्दिर गिरवा डाले। किन्तु इन अत्याचारों का, नवीन स्फूर्ति तथा जीवन से पूर्ण, हिन्दूधर्म के उपासकों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। वे अपने धर्म की तथा अपनी मानहानि नहीं देख सके। उन्हें सिकन्दर से कोई आशा न थी, अतः वे उसके विरोधी हो गये और अन्य विद्रोहियों से मिल कर उन्होंने उसको बहुत तंग किया। इस प्रकार हिन्दुओं को अपना विरोधी बनाकर सिकन्दर ने अपनी कठिनाइयों की वृद्धि कर ली।

सिकन्दर के शासन-काल का प्रभाव।

सिकन्दर के शासन-काल का क्या प्रभाव हुआ उसका बहुत कुछ उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। अब हम उन सबका संक्षेप में इस प्रकार विवरण कर सकते हैं। जौनपुर का प्रश्न अभी तक हल नहीं हुआ था। धार्मिक असहिष्णुता-पूर्ण नीति के कारण हिन्दू साम्राज्य के वैरी हो गये। सम्राट् का अस्तित्व केवल अमीरों और सूबेदारों पर ही निर्भर था। इधर ये अमीर और सूबेदार पहले से भी अधिक उद्दण्ड हो गये थे। उनको दबाने के लिए किये गये प्रयत्नों का परिणाम पूर्णतया विपरीत हुआ; ये अमीर सम्राट् को अपना विरोधी समझने लगे। साम्राज्य का शासन पहले ही निर्बल था, सिकन्दर की नीति से उसकी

१ ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डियाः, द्वितीय संस्करणः, पृष्ठ ४४९।

शक्ति और भी अधिक घट गई। उसने शासन को सुसंगठित करने के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। शासन की निर्बलता, तथा ढिलाई से विद्रोही लाभ उठा रहे थे। अमीर और हिन्दू दोनों विद्रोही होकर सम्राट् की सत्ता उखाड़ फेंकने को उतारू हो गये थे।

यदि सिकन्दर लोदी भी मरते समय लुई १५ वें के समान कहता कि—"मेरी मृत्यु के वाद प्रलय होगी," तो यह भविष्य वाणी पूर्णतया सत्य सिद्ध होती। सिकन्दर की मृत्यु के अनन्तर जब इब्राहीम देहली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ उस समय भारत का राजनैतिक वातावरण शीघ्र ही आनेवाले अन्धड़ की सूचना दे रहा था। भारतीय आकाश विपत्तियों के काले काले वादलों से घिरा हुआ था। कठिनाइयों का वारापार न था, सर्वत्र आपत्तियाँ मुँह वाये खड़ी थीं। ये कठिनाइयाँ दो कारणों से अधिक वढ़ गईं। प्रथम तो मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह के आधिपत्य में हिन्दुओं का संगठन हो रहा था। वे मुस्लिम साम्राज्य को नष्ट करने के लिए तैयारियाँ कर रहे थे। दूसरे, भारत के उत्तर-पश्चिमी दरवाज़े पर खड़ा, अफ़ग़ानिस्तान का शासक, वावर भारत का द्वार खटखटा रहा था, भारत में घुस आने के अवसर की ताक में वैठा था।

इब्राहीम लोदी
(१५१८-१५२६)

ऐसे भयंकर समय में इब्राहीम, सिकन्दर का उत्तराधिकारी बनकर देहली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इतिहास के पृष्ठों में इब्राहीम का चरित्र जितना बुरा चित्रित किया जाता है, वह सचमुच में उतना बुरा न था। उसे अपने कर्तव्य

का पूर्ण पता था, उसे क्या करना चाहिए, यह बात भी वह अच्छी तरह से जानता था। यदि किसी भी बात का इब्राहीम में अभाव था तो वह दूरदर्शिता का। अन्य लोदी शासकों के समान उसने भी देश-काल की परिस्थिति पर विचार नहीं किया, और जो कुछ भी उसे साम्राज्य के लिए लाभदायक प्रतीत हुआ, उसे कार्यरूप में परिणत करने लगा। इस अदूरदर्शिता का परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य का शीघ्र ही अन्त होगया। इब्राहीम की नीति से अमीरों के व्यक्तिगत लाभों पर कुठाराघात होता था, अतः उसकी नीति का उन्होंने विरोध किया, यह बात आश्चर्यजनक नहीं थी।

इब्राहीम ने अपने पूर्वगामी शासकों से विपरीत अपने थोड़े से शासनकाल में भी प्रजा के हितों की अवहेलना न की। अपने शासन-काल में उसने इस बात का प्रबन्ध किया कि कभी भी धान्य की कमी प्रतीत नहीं हुई। वस्तुओं के मूल्य की दर भी घट गई।

हेनरी सप्तम के समान इब्राहीम का भी यह ख़याल था कि अमीरों को दबाये बिना, प्रजा का लाभ करना सम्भव नहीं। प्रजा को दुख देनेवाले, उनके सुख और शान्ति पर कुठाराघात करनेवाले ये अमीर ही थे। अतः हेनरी के समान ही उसने भी अमीरों की उद्दण्डता का अन्त करने तथा उन्हें शासक का अनन्य आज्ञाकारी बनाने के लिए प्रयत्न करना आरम्भ किया। परन्तु उस समय राजनैतिक वातावरण ऐसा था कि इब्राहीम का इन विचारों को कार्यरूप में परिणत करना, उसकी अदूरदर्शिता प्रदर्शित करता

अमीरों के प्रति उसकी नीति।

है। अतएव जब इब्राहीम ने शाही रीति-रस्मों को प्रचलित करने का प्रयत्न किया, तो मानों बारूद के ढेर में जलती हुई दियासलाई लगा दी।

लेनपूल लिखता है कि—"जब राज्य-सिंहासन साहसी तथा उद्दण्ड अमीरों की सहायता पर स्थित होता है तब यह अत्यावश्यक होता है कि कमसे कम राजनैतिक विचारों से ही सम्राट् उनके प्रति विशेष आदर तथा सम्मान दिखावे। अफ़ग़ानों को तो यह बात बहुत ही बुरी लगती थी कि राजसभा में सम्राट् अपनी श्रेष्ठता प्रकट करे। और न उन अमीरों को राजकीय शिष्टाचार तथा सम्राट् के कठोर नियमों का पालन ही अच्छा लगता था। वे अमीर यह चाहते थे कि सम्राट् उनका सरदार-मात्र रहे, वह उनका एक साथी रहे, उनमें सर्वश्रेष्ठ योद्धा-मात्र हो। उनके विचारानुसार उसे यह नहीं चाहिए था कि वह अपने पद पर इतराये, तथा स्वाधीनता के वायु-मण्डल में पले हुए और तलवार के ही बल पर राज्य को रक्षित रखनेवाले उन अमीरों को तुच्छ दृष्टि से देखे।"[1] किन्तु इन विचारों ने इब्राहीम के मस्तिष्क में प्रवेश नहीं किया। उसने अमीरों को बाध्य किया कि वे सम्राट् के पद के प्रति विशेष आदर दिखावें और राजकीय नियमों का पालन करें। इससे उनका सारा असन्तोष उबल पड़ा।

जलाल का विद्रोह।

उन्होंने जलाल को जौनपुर का सुलतान बनाने का प्रयत्न किया। आज़म हुमायूँ, जिसे सिकन्दर ने जौनपुर का सूबेदार नियत किया था, विद्रोहियों से मिल गया। किन्तु जब इब्राहीम सेना लेकर बढ़ा तब तो आज़म ने जलाल

१. लेनपूलः—मेडीवल इण्डिया, पृष्ठ १६१।

का साथ छोड़ दिया। इधर जलाल ने आगरा के सूबेदार के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि का विवरण सुनते ही इब्राहीम ने जलाल को मार डालने की आज्ञा दे दी। अपनी जान बचाने के लिए जलाल ने भाग कर ग्वालियर के राजा की शरण ली। इब्राहीम लौट आया और वह शासन सुदृढ़ करने में लग गया। उधर उसने आज़म को ग्वालियर के दुर्ग पर धावा करने की आज्ञा दी। ग्वालियर का दुर्ग हस्तगत होगया किन्तु जलाल भाग निकला और भागते भागते गोंडवाना जा पहुँचा, जहाँ राजाओं ने उसे क़ैद करके देहली भेज दिया। देहली में उसे मृत्युदण्ड दिया गया।

फिर कहीं विद्रोह उठ खड़ा न हो, इस उद्देश्य से इब्राहीम ने आज़म तथा अन्य अमीरों को क़ैद कर लिया। अमीरों का विद्रोह फिर उठा, उन्होंने सेना इकट्ठी की। इब्राहीम ने दरयाख़ाँ लोहानी को शाही सेना एकत्रित करके इस विद्रोह को दबाने के लिए आज्ञा दी। बिहार, ग़ाज़ीपुर, और अवध से शाही सेना एकत्रित हुई और फिर विद्रोहियों के साथ भीषण युद्ध हुआ। अन्त में विद्रोहियों का एक सरदार, इस्लामख़ाँ, मारा गया, और दूसरा, सैदख़ाँ, पकड़ा गया, कई अन्य विद्रोही मारे गये और बचे खुचे भाग निकले।

इन्हीं दिनों मेवाड़ के राणा के साथ भी इब्राहीम का युद्ध आरम्भ हुआ, जिसमें इब्राहीम की सेना की हार हुई[१]।

---

१. तारीख़-ए-सलातीन में लिखा है कि रात्रि के समय पुनः युद्ध हुआ और उसमें राणा हारे, परन्तु इस घटना का न तो "तारीख़-ए-दाउदी" में उल्लेख है, और न "वाक़िआते-मुश्ताक़ी" में, अतः तारीख़-ए-सलातीन में वर्णित घटना विश्वसनीय नहीं है।

किन्तु इस हार से इब्राहीम हतोत्साह नहीं हुआ, और पूर्ण उत्साह के साथ अमीरों की उद्दण्डता का अन्त करने के लिए पुनः प्रयत्न करने लगा। अमीरों में विद्रोह फैल रहा था, इस विद्रोहाग्नि को शान्त करने के लिए उसने कई बड़े बड़े अमीरों का रुधिर बहाया, परन्तु इस रक्तपात ने विद्रोहाग्नि में केवल आहुति का काम किया; शान्त होने के स्थान पर वह अधिक धधक उठी। अमीरों को ऐसा प्रतीत होने लगा कि उनका अन्त निकट है अतः मरते हुए मनुष्य के समान निराश होकर वे अपने बचने का उपाय ढूँढ़ने लगे। भिन्न भिन्न शक्तिशाली अमीरों ने साम्राज्य को टुकड़े टुकड़े कर डाला, भिन्न भिन्न प्रान्तीय सूबेदार अमीर अपनी अपनी सेना इकट्ठी करके इब्राहीम का विरोध करने को उद्यत हुए। उधर दौलतख़ाँ आदि ने यह सोचकर कि अफ़ग़ानिस्तान के बादशाह बाबर की सहायता से इब्राहीम को सिंहासनच्युत कर दें, और बाद में उसके स्थान पर किसी दूसरे को सिंहासन पर बिठा दें, उसे भारत पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रण भेजा, और स्वयं सहायता देने का वचन दिया। सन् १५२४ ई० में बाबर ने आक्रमण करने की सोची, पंजाब तक आया भी, किन्तु उसने देखा कि भारत को जीतने के लिए अधिक तैयारी की आवश्यकता है। उधर आलमख़ाँ और दौलतख़ाँ ने देहली पर आक्रमण किया, किन्तु जब इब्राहीम ने उन्हें हरा कर भगा दिया, तो

म० म० गौरीशङ्करजी ही० ओझाः—राजपूताने का इतिहास, जिल्द २ पृष्ठ ६६३-४। ईश्वरीप्रसादः—मेडीवल इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४२४।

उन्होंने भी बाबर को सहायता न दी। अतः बाबर लौट गया और सन् १५२६ ई० में पूरी तैयारी करके भारत-विजय के लिए चढ़ आया। पानीपत के प्रसिद्ध रणक्षेत्र में युद्ध हुआ, इब्राहीम खेत रहा, देहली की सेना भाग निकली, बाबर की विजय हुई, और भारत के प्रथम मुस्लिम साम्राज्य का अन्त हुआ।

भारत के प्रथम मुस्लिम साम्राज्य का अन्त। १५२६.।

इस प्रकार लोदी-वंश का तथा भारत के प्रथम मुस्लिम साम्राज्य का पानीपत के रणक्षेत्र में अन्त हुआ। लोदी सम्राटों की नीति से ही उनका पतन हुआ। इब्राहीम की नीति यद्यपि ठीक थी किन्तु उसका ऐसे समय उपयोग किया गया, जिस समय उसे काम में लाना व्यर्थ था। साम्राज्य का अन्त निकट था। इब्राहीम ने अपनी अदूरदर्शिता का परिचय दिया, और पतनोन्मुख साम्राज्य को एकबारगी पतन के गम्भीर गह्वर में ढकेल दिया। यह अवश्यम्भावी था कि उनकी उद्दण्डता के कारण साम्राज्य नष्ट होता, इब्राहीम की नीति का इतना ही प्रभाव पड़ा कि वह भीषण आपत्ति, साम्राज्य का पतन, कुछ जल्द आगया। बहलोल और सिकन्दर की नीति के कारण ही अमीरों की उद्दण्डता बढ़ती गई। यह प्रवाह दिन पर दिन बढ़ रहा था और एक न एक दिन यह साम्राज्य को अवश्य नष्ट करता। इब्राहीम ने इस प्रवाह को रोकने के लिए बाँध बाँधा, जिससे एकाएक बाढ़ आई और उस बाढ़ से साम्राज्य ही नष्ट नहीं हुआ, किन्तु वह बाँध तथा उस बाँध का निर्माता भी विनाश को प्राप्त हुए। इस प्रकार अमीरों की उद्दण्डता को रोकने तथा उसे

अनुक्रमणिका

जिन संख्याओं के साथ "व" लगाया गया है वे वक्तव्य में आये हुए उल्लेखों का निर्देश करते हैं।

अ

ई

उ

ए

ऐ

औ

क

ख

ग

च

ज

ट

त

थ

द

प

फ

भ

म

य

र

ल

व

श

स

ह

